माध्यम

वर्ष २ : अंक ८

दिसंबर १९६५

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

दिसंबर १९६५

निमित्तमात्रं भव

वर्ष २ : अंक ८
पूर्णांक : २०

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैकुंठनाथ मेहरोत्रा
श्रीराम वर्मा

संपादकीय पता
पोस्ट बॉक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

लेख

कविता

पत्र तथा कहानी

मैथिली साहित्य

समीक्षाएँ

माध्यम

अंक २१ में :

- सेठ गोविंददास तथा कुमार विमल के लेख
- अमीक़ हनफ़ी : 'उर्दू की नयी कविता' (अंतिम अंश)
- सहवर्ती साहित्य (असमीया) के अंतर्गत हेम बरुआ का विचारपूर्ण लेख
- प्रयागनारायण त्रिपाठी द्वारा दिनकर की 'उर्वशी' की विवेचना
- कविता, कहानी, प्रतिपत्तिका तथा समीक्षा

देवराज

काव्य-भाषा

(एक प्रतिक्रिया : संदर्भवाद)

(१)

श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी कृत 'भाषा और संवेदना' का पहला निबंध 'काव्यभाषा का स्वरूप' इधर के सैद्धांतिक चिंतन का एक बढ़िया नमूना है। इस कोटि का चिंतन हिंदी में सुलभ नहीं है; यह स्थिति भी इस निबंध को महत्वपूर्ण बनाती है। यहाँ हम संक्षेप में निबंध के मंतव्यों का परिचय दे कर उसके संबंध में अपने विचार प्रकट करेंगे।

भूमिका के रूप में श्री चतुर्वेदी का कहना है कि **यों तो प्रत्येक युग के काव्य-बोध को समझने के लिए कवि की भाषा-प्रयोग-विधि हमारे लिए शायद सबसे महत्वपूर्ण कुंजी सिद्ध हो सकती है। पर जैसा कहा गया, अधुनिक कविता का मर्म ग्रहण करने के लिए काव्य-भाषा का उपादान ही एकमात्र विश्वसनीय माध्यम रह गया है, जिससे हम इस युग-विशेष के काव्य-सर्जन की क्षमता को समझ सकते हैं।** इस वाक्य के अंतिम अंश में एक हिचक का भाव है—लेखक को पूरा-पूरा यह विश्वास नहीं है कि उसके द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली कसौटी सार्वकालिक व सार्वभौम है। यह हिचक या संकोच संकल्पित सामान्य कथन की वस्तुपरक वैज्ञानिकता अथवा वैज्ञानिक सार्वभौमता के दावे के लिए सहायक नहीं है। काव्य-भाषा, यानी सफल व प्रगतिशील काव्य-भाषा, के संबंध में लेखक की मुख्य स्थापना इस प्रकार है: बहुत समय तक प्रयुक्त होने के बाद प्रचलित काव्य-भाषा की शक्ति घटने लगती है, उसकी अभिव्यंजन-क्षमता क्रमशः चुक जाती है, जिसके फलस्वरूप वह अपने को बदलते हुए नये युग के यथार्थ से '**संपृक्त करने में असमर्थ हो जाती है। उसका गत्यात्मक स्वरूप क्रमशः जड़ हो जाता है।**' वह युग-विशेष के नये अनुभव को वहन करने की योग्यता खो बैठती है; फलतः नये कवि-लेखकों को नयी भाषा (के निर्माण) की अपेक्षा होने लगती है। यह निर्माण किस प्रकार से संपन्न होता है? लेखक का विचार है कि एक बँधी लीक में चलते-चलते काव्य-भाषा अपने स्वरूप एवं अभिव्यक्ति में स्थिर, एकरूप व विशिष्ट अर्थों को चौकस रूप में वहन करने वाली बन जाती है। वह एक प्रचलित संवेदना की वाहक बन कर जड़ीभूत हो जाती है। इस गतानुगतिक, पारंपरिक संवेदना को तोड़ने के लिए नये लेखकों को काव्य-भाषा का नया रूप गढ़ना पड़ता है। इस गढ़ने की क्रिया में दो व्यापार सन्निहित रहते

हैं; यानी अमूर्तन (अवहरण=एब्स्ट्रैक्शन) और प्रतीकन की प्रक्रियाएँ। ये प्रक्रियाएँ भाषा को जीवित व गतिशील बनाती हैं।

लेखक की एक महत्वपूर्ण स्थापना यह है कि कविता की भाषा शब्दों के संपूर्ण अर्थों को ले कर नहीं चलती; वह शब्द-विशेष के **'संपूर्ण और चरम अर्थ के स्थान पर उसके इच्छित आंशिक तत्व को ही'** ग्रहण कर के चलती है। काव्य में शब्द के संपूर्ण अर्थ को न ले कर, अमूर्तन (एब्स्ट्रैक्शन) की प्रक्रिया द्वारा उसके एक खास संकेत को ले कर चला जाता है। यह अर्थ क्रमशः एक प्रतीक का रूप धारण कर लेता है। उदाहरण के लिए **घर** और **चक्रव्यूह** जैसे शब्द, जो गद्य-भाषा में एक सामान्य अर्थ देते हैं, काव्य में क्रमशः प्रतीकित अर्थों को ध्वनित करने लगते हैं--- जैसे **घर** शब्द **माँ की ममता और पत्नी के समर्पण और उत्कंठा का** भी प्रतीक है। इसी प्रकार **चक्रव्यूह** के साथ **महाभारत, गर्भवती सुभद्रा, अभिमन्यु, सात योद्धा---यह पूरा का पूरा परिवेश हमारे सामने आ जाता है।** कवि जब इस संदर्भ को प्रतीक के अर्थ में लाता है तो **चक्रव्यूह** का अर्थ हो जाता है, **मानव-मन की गुत्थियाँ**। इस तरह के प्रतीक काव्य-भाषा के सबसे तेजस्वी तत्व हैं। बहुत से प्रतीकित शब्द मिल कर काव्य की उस बड़ी इकाई का निर्माण करते हैं जिसे 'भाव-चित्र' कहते हैं। **'यह भाव-चित्रों की भाषा ही वस्तुतः काव्य-भाषा है।'** प्रतीकों का मुख्य उपयोग यह है कि वे शब्दों के सामाजिक अर्थों को लेखक की वैयक्तिक, अद्वितीय अनुभूति का वाहक बना दें। लेखक के अनुसार आधुनिक कविता में अमूर्तन तथा प्रतीकन की उक्त प्रक्रियाएँ अधिक स्वीकृत व स्पष्ट हैं। **'आधुनिक कविता में शब्द के चरम अर्थ को न ले कर उसके उन्मुक्त वैकल्पिक अर्थ को ग्रहण किया जाता है।' 'काव्य-भाषा का वह द्रव रूप जिसमें अर्थ की निश्चितता पर बल न दे कर उसकी उन्मुक्तता पर अधिक बल दिया जा रहा है, आज के साहित्यिक कृतित्व की केंद्रीय स्थिति है। इस दृष्टि में अर्थ से इंकार नहीं है, केवल इस उन्मुक्तता को संभव करने के लिए सामान्य अर्थ की अपेक्षा भाव-चित्रों के संघटन को अधिक महत्व दिया जाता है।'** (पृ० २९)

ऊपर हमने यथाशक्ति लेखक के मत का सही किंतु संक्षिप्त सारांश देने की कोशिश की है। श्री चतुर्वेदी का विचार है कि अमूर्तन व प्रतीकन काव्य-भाषा की निजी विशेषताएँ हैं, जो उसे गद्य से अलग करती हैं। इसका एक निष्कर्ष यह हो सकता है कि गद्य-साहित्य तथा काव्य में गुणात्मक भेद है। यह निष्कर्ष संस्कृत के साहित्य-शास्त्रियों की काव्य-परिभाषा का विरोधी है।

(२)

श्री चतुर्वेदी का बारीक विश्लेषण सराहनीय ही नहीं, प्रशंसनीय है। उसकी आधार-भूत काव्य-संवेदना दूर तक सही जान पड़ती है। उनका विश्लेषण जिस तथ्य की व्याख्या करता है वह है: श्रेष्ठ लेखक द्वारा उपस्थापित अनुभव की अद्वितीयता या मौलिकता। डॉ० चतुर्वेदी के विचार में इस मौलिकता का प्रमुख उपादान भाषा का विशिष्ट प्रयोग है। इस तथ्य को दूसरे ढंग से भी प्रकट किया जा सकता है। 'रामचरितमानस' में कमल की उपमा का हज़ारों

जगह प्रयोग हुआ है; वहाँ कमल का अर्थ बहुत-कुछ रूढ़ या जड़ीभूत हुआ दिखायी पड़ता है। उस समय के पूरे साहित्य में भी कमलवाची शब्दों की कुछ वैसी ही स्थिति है। (इस दृष्टि से भी संभवतः तुलसी द्वारा उक्त शब्द का प्रयोग ज़्यादा रूढ़ हुआ दिखायी पड़ता है।) आज का कवि प्रायः कमल का उपमान के रूप में प्रयोग नहीं करता, इस तरह की प्रवृत्तियाँ क्रमशः नये काव्य को युगोचित नया रूप दे देती हैं। युग-विशेष का काव्य मौलिक हो, इसके लिए यह ज़रूरी है कि नये युग के कवि भाषा का नये रूपों में—शब्दों को नयी अर्थ-ध्वनियों से संपृक्त करते हुए—प्रयोग करें।

यहाँ एक दूसरे, संबद्ध तथ्य पर उक्त लेखक ने विशेष विचार नहीं किया है—इस प्रश्न पर कि युग-विशेष में एक सफल कवि अपने को दूसरों से किस तरह जुदा करता है। स्पष्ट ही एक युग के समस्त कवियों की भाषा कुछ अर्थों में समान होती है; इस समानता के वातावरण में कोई कवि अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को कैसे गठित व प्रकाशित करता है? रीति-काल के कवियों में बिहारी, देव, घनआनंद आदि के व्यक्तित्व अलग कैसे हो सके हैं? क्या यह माना जाय कि उनमें से प्रत्येक ने, विगत युग की अपेक्षा से, शब्दों का नये ढंग से अमूर्तन (प्रत्याहरण) और प्रतीकन किया है? यही सवाल कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ आदि कवियों के संबंध में पूछा जा सकता है। हमारे विचार में काव्य-भाषा में शब्दों के वे अर्थ महत्वपूर्ण होते हैं, जो जीवन-मूल्यों अथवा सांस्कृतिक मूल्यों की ध्वनियों के रूप में विशिष्टता लिये रहते हैं। बदलते युग में इन्हीं अर्थों में परिवर्तन ज़्यादा ज़रूरी हो जाता है—ताकि शब्द-समष्टि में बँधी अनुभूति पुरानी मूल्य-ध्वनियों से भिन्न नये मूल्य-बोध को संप्रेषित कर सके। जब मूल्यानुभूति या मूल्य-बोध में क्रांतिकारी परिवर्तन होते हैं—जैसा कि प्रायः संक्रांति-युगों में होता है, और आज के युग में हो रहा है—तो काव्य-भाषा ख़ास तौर से बदलती हुई दिखायी पड़ती है।

प्रश्न उठता है: काव्य-भाषा में नये मूल्य-बोध एवं अर्थ-बोध की प्रतिष्ठा कैसे होती है? श्री चतुर्वेदी का विचार है कि वैसे परिवर्तन की उपलब्धि के लिए रचनाकार को **भाषा से संघर्ष और असंतोष का अनुभव करते हुए अग्रसर होना पड़ता है।** उनका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि रचनाकार की अभिव्यक्ति संबंधी समस्या मुख्यतः भाषा को नया अर्थबोध देने की समस्या होती है। प्रश्न है, क्या अपेक्षाकृत स्थिर युग के रचनाकार के सामने भाषा के समुचित प्रयोग की समस्या नहीं होती? क्या कालिदास, भारवि और माघ, सूर, तुलसी और बिहारीलाल भाषा के सजग प्रयोक्ता नहीं हैं? यदि नहीं तो श्री चतुर्वेदी की यह स्थापना खंडित होती है कि भाषा-प्रयोग का मानदंड काव्य के मूल्यांकन का एकमात्र अथवा सबसे अधिक विश्वसनीय मानदंड है; यदि हाँ, तो आलोचक को यह दिखा सकना चाहिए कि संकेताधीन कवि भाषा का वैसे ही नया संस्कार कर रहे थे जैसा कि, उनके अनुसार, अज्ञेय ने किया है। हमारे प्रश्न का दूसरा रूप यह है: यह मानते हुए कि प्रत्येक महत्वपूर्ण लेखक भाषा-प्रयोग में सावधानी बरतता है, कालिदास, सूर-तुलसी आदि की भाषा में इस सावधानी का सही रूप क्या है? यदि थोड़ी देर को हम अपना ध्यान बिहारी के काव्य पर जमायें तो जान पड़ेगा कि वहाँ वस्तु-चित्र को नपी-तुली, सही भाषा में उतारने का आग्रह विशेष है। वह भाषा बिहारीलाल के विशिष्ट भाव-बोध को काफ़ी सही

ढंग से प्रकट कर पाती है। यही बात विद्यापति और सूर-तुलसी पर भी लागू है। लेखक का यह कहना ठीक है कि बार-बार, अनेक कवियों द्वारा, अनेक संदर्भों में प्रयुक्त होने के कारण शब्द क्रमशः **अपारदर्शी** बन जाते हैं; किंतु प्रश्न यह है कि समर्थ लेखकों द्वारा शब्दों का यह दोष या कमी दूर किस तरह की जाती है?

श्री चतुर्वेदी ने भाषा को नया अर्थ-बोध देने की समस्या को एक समीक्षक या बाहरी द्रष्टा की नज़र से देखा है; उसे रचनाकार की दृष्टि से भी देखा जा सकता है। उस दृष्टि से हमारे प्रश्न का रूप यह होगा: लिखते समय लेखक के अवधान और प्रयत्न का मुख्य विषय क्या होता है—वस्तु-चित्र को सावधानी से अंकित करना या शब्दों को नयी अर्थ-ध्वनियों से संयुक्त करना? हमारी राय में लेखक के अवधान का मुख्य विषय वस्तु-चित्र को खड़ा करना या एक नये अर्थ-संदर्भ को निर्मित करना होता है; व्यक्तिगत रूप में शब्दों के अर्थ को बदल देना उसकी रचना-प्रक्रिया का साक्षात लक्ष्य नहीं होता और वह प्रक्रिया जिसके द्वारा उसके अवचेतन या उपचेतन में नये अर्थ-संदर्भों का स्फुरण व विकास होता है, उसके समूचे सांस्कृतिक व्यक्तित्व द्वारा नियंत्रित होती है।

श्री चतुर्वेदी द्वारा किया हुआ काव्य-भाषा का विश्लेषण नये अर्थ-संदर्भ के महत्व पर उचित गौरव देता नहीं जान पड़ता, यद्यपि उन्होंने भी यह स्वीकार किया है कि अमूर्तन तथा प्रतीकन की क्रियाओं का चरम लक्ष्य भाव-चित्रों को खड़ा करना होता है और यह कि वे प्रतीक जो भाव-चित्रों के रूप में ग्रथित नहीं हो पाते, काव्य-रचना को पुष्ट या अग्रसर करने वाले नहीं होते। उन्होंने ठीक ही कहा है कि **काव्य-विधान में भाव-चित्र ही केंद्रीय तत्व है। किसी कवि की क्षमता अंततः उसके भाव-चित्रों के संगठन पर ही निर्भर होती है। प्रतीकों की भावचित्रों में परिणति ही काव्य-भाषा के बनने की मुख्य स्थिति है।** हम उनके इस मंतव्य से पूर्णतया सहमत हैं। हम उनके इस निर्णय से भी सहमत हैं कि **हिंदी की नयी कविता ने—प्रतीक तो बड़ी संख्या में विकसित किये। पर फिर उन प्रतीकों को गहरे अर्थ से संपृक्त कर सकने में वह असफल रही। इसका एक कारण तो सतत (सस्टेंड) आंतरिक निष्ठा का अभाव अनुमानित किया जा सकता है।—अधिकतर वे (यानी हिंदी के कवि) इन प्रतीकों से खिलवाड़ करते रहे—सफल कवि भी और असफल कवि भी।** आगे उन्होंने, इसी संदर्भ में, नियोजन के अभाव का ज़िक्र किया है। ये सब बड़ी महत्वपूर्ण व्युत्प्रेक्षाएँ (ऑबज़र्वेशन्स) हैं किंतु उन्होंने इन 'नियोजनों', 'अर्थ-संपृक्तियों' आदि विभावनों पर अपेक्षित अवधान और गहराई से विचार नहीं किया है। निबंध के कलेवर और पूरी पुस्तक में, लेखक का विशेष ध्यान काव्य-भाषा के नयेपन पर रहा है; बड़े अर्थ-संदर्भों के निर्माण और उसकी ज़रूरतों पर नहीं। वह 'आंतरिक निष्ठा' जैसी अर्थपूर्ण व्यंजनाओं का प्रयोग करता है, पर कहीं उन्हें परिभाषित या स्पष्ट करने की कोशिश नहीं करता। 'अज्ञेय' ने कहीं कहा है कि अच्छी भाषा लिखना अपने आप में उपलब्धि है। इसका समर्थन करते हुए लेखक यह भूल गया है कि बड़े अर्थ-संदर्भों का निर्माण करना अपेक्षाकृत ज़्यादा बड़ी उपलब्धि है।

किसी भी नयी स्थापना के महत्व की दो संबद्ध कसौटियाँ होती हैं: एक, उसकी परिचित तथ्यों की व्याख्या करने की योग्यता; और दूसरे, उससे अनुगत होने वाले निष्कर्षों की रोच-

कता व फलवत्ता। एक अच्छी स्थापना संबंधित तथ्यों को एक नयी रोशनी में रखते हुए बोधगम्य बनाती है; वह ऐसे रोचक निष्कर्षों का संकेत भी करती है, जो नये तथ्यों को खोज निकालने तथा समझने में मदद देते हैं। वैज्ञानिक चिंतन के प्रायः सभी क्षेत्रों में सैद्धांतिक निर्माण के ये माने हुए निकष हैं। देखा जाय कि श्री चतुर्वेदी का मंतव्य इन कसौटियों पर कितना खरा उतरता है। साथ ही हम यह भी देखने की चेष्टा करेंगे कि स्वयं हमारा मंतव्य—जिसे हम संदर्भ-वाद कह सकते हैं—उनके मंतव्य की तुलना में अपने को किस हद तक कम या अधिक संतोषप्रद साबित करता है। किंतु इस तरह की परीक्षा से पहले हम संदर्भवाद का किंचित स्पष्टीकरण करेंगे।

संदर्भवाद के अनुसार काव्य-साहित्य की महत्ता का प्रमुख उपादान और आश्रय कृति-कार द्वारा निर्मित अर्थ-संहति या अर्थ-संदर्भ होता है, यानी वह संपूर्ण प्रतीति या अनुभव जो उसके द्वारा संघटित रूप में शब्दबद्ध किया जाता है। इस अर्थ-संहति में बोधतत्व एवं रागतत्व दोनों का समावेश होता है। अच्छा साहित्य हमारी बोध-वृत्ति या चेतना का विस्तार करता है; वहाँ चेतना के सामने आने वाले वस्तु-चित्र एक विशेष अर्थवत्ता या दृष्टि से अनुप्राणित रहते हैं। इस प्रकार की अन्विति प्रत्येक सफल रचना की विशेषता होती है; वह एक बड़े कलाकार की समग्र या अधि-कांश रचना को भी विशेषित करती है। रचना में निवेशित विभिन्न उपादानों—शब्दों, अर्थ-ध्वनियों, चित्रों आदि—की उपयुक्तता एवं सार्थकता की एकमात्र कसौटी रचना की समग्र, अन्वित चेतना या अनुभूति, यानी उसकी शक्ति व प्रभविष्णुता, में निहित होती है। सीधे शब्दों में रचनागत प्रत्येक उपादान का महत्व उस अन्विति या प्रभाव की रोशनी में ही आँका जा सकता है, जो समूची रचना का लक्ष्य या संप्रेष्य है। रचना का प्रभाव कई तरह का हो सकता है; मूल्यां-कन की दृष्टि से महत्वपूर्ण बात यह है कि वह प्रभाव विशद, शक्तिपूर्ण एवं गहरा हो—ताकि वह पाठक के मस्तिष्क पर कमोबेश सबल व स्थायी छाप छोड़ सके।

हम यह भी मानते हैं कि अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण अर्थ-संहति का निर्माण एक संस्कृत, परि-ष्कृत एवं बौद्धिक दृष्टि से, सशक्त व्यक्तित्व की अपेक्षा रखता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि यहाँ संस्कार, परिष्कार और शक्ति पदों के वही अर्थ अभिप्रेत हैं, जिनका संबंध साहित्यिक रचना की शक्ति व श्रेष्ठता से होता है। अंततः परिष्कार व शक्ति संवेदना के धर्म हैं; और यह संवेदना विशिष्ट व्यक्तित्व की विशेषता है।

संदर्भवाद के इतने स्पष्टीकरण के बाद हम डॉ० चतुर्वेदी की विशिष्ट स्थापना की शक्ति की परीक्षा करेंगे।

(३)

श्री चतुर्वेदी का मंतव्य इस बारे में काफ़ी स्पष्ट नहीं है कि बड़ा साहित्यिक कृतित्व समर्थ भाषा की—ऐसी भाषा की जो पहले से मौजूद है—अधिक अपेक्षा करता है, अथवा कृति-कार के समर्थ व्यक्तित्व की। यदि साहित्यकार के रचना में अग्रसर होने की मुख्य शर्त यह है

कि वह मौजूदा भाषा के अर्थों को अमूर्तन एवं प्रतीकन की प्रक्रियाओं द्वारा निरंतर बदलता चले, तो ज़ाहिर है कि उसे पूर्वगठित भाषा से ख़ास लेना-देना नहीं रहता। उसका प्रमुख कार्य शब्दों को नयी अर्थ-ध्वनियों से संयुक्त करना होता है, न कि उनकी मौजूदा अर्थ-ध्वनियों का उपयोग करना। ऐसी दशा में पुरानी अर्थ-ध्वनियाँ उसके कार्य में साधक न हो कर बाधक ही अधिक होंगी। किंतु तब डॉ० चतुर्वेदी की निम्न शिकायत सार्थक नहीं हो सकेगी—**द्विवेदी युग की बहुर्चाचित इतिवृत्तात्मकता इस काल के भाषा-प्रयोगों के माध्यम से अच्छी तरह समझी जा सकती है। खड़ी बोली में अभी तक प्रतीकों और भाव-चित्रों के विधान के लिए उपयुक्त संस्कार का अभाव था। इस अविकसित काव्य-भाषा के अनुरूप ही इन कवियों की संवेदना है, जो सीमित अनुभव-क्षेत्रों का प्रधान कारण है।** (पृ० ५-६)।

यहाँ प्रश्न उठता है, जिस समय छायावादी कवि मैदान में आये, उस समय उन्हें कौन सी भाषा उपलब्ध थी? निश्चय ही वह भाषा द्विवेदी युग की भाषा थी। फिर वे अपेक्षाकृत अधिक सुंदर काव्य का प्रणयन कैसे कर सके? निश्चय ही उन्होंने मौजूदा भाषा को नये संस्कार दिये; किंतु प्रश्न है, द्विवेदी युग के कवि भाषा को वैसे संस्कार क्यों नहीं दे सके? हमारी समझ में इसका उत्तर एक ही हो सकता है, यह कि काव्य-रचना की दृष्टि से, छायावादी कवियों के व्यक्तित्व अधिक संस्कृत, परिष्कृत एवं शक्तिपूर्ण थे। द्विवेदीयुगीन कवियों के व्यक्तित्वों का निर्माण मुख्यतः पौराणिक परंपरा की छाया में हुआ था; यह परंपरा अपेक्षाकृत हीन या घटिया परंपरा थी। इसके विपरीत छायावादी कवियों के व्यक्तित्व कालिदास, रवींद्र आदि में प्रति-फलित परंपरा की छाँह में विकसित हुए थे। फलतः ये कवि अधिक कोमल व सुंदर अर्थ-संदर्भों की प्रतीति से अनुप्रेरित हो सके; इस अनुप्रेरणा के अनुरूप ही उनकी भाषा भी नये अर्थ-संस्कारों से संयुक्त हो गयी। उन्होंने अपनी संवेदना के अनुरूप नयी भाषा गढ़ी, यह कथन एक सीमा तक ही सही है। यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने अपनी पदावली का चयन कुछ कालिदास जैसे कवियों की शब्द-राशि में से किया। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्रत्येक लेखक मौजूदा शब्द-कोष में से ही अपनी रचना के लिए उपयोगी पदों और अर्थ-ध्वनियों का चयन करता है।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है। शब्दों के प्रयोग में लेखक-विशेष काफ़ी हद तक प्रचलित अर्थ-ध्वनियों से बँधा रहता है। हम कहते हैं कि, एक खास संदर्भ में, लेखक-विशेष ने किसी शब्द का कम या ज़्यादा सटीक प्रयोग किया है। इस सटीकता की जाँच करते हुए हमारा ध्यान प्रायः प्रयोग के औचित्य और अर्थवत्ता पर होता है, न कि अर्थ की अप्रचलितता या मौलिकता पर। पद-विशेष के प्रयोग की मौलिकता प्रायः इसमें होती है कि वह लेखक के नये अर्थ-संदर्भ की पुष्टि में मदद दे। इस तरह की मदद देते हुए वह प्रचलित अर्थों के दायरे से एकदम बाहर चला जाय, यह न आवश्यक है, न वांछनीय। वास्तव में यदि लेखक में शब्दों को मनमाना अर्थ देने की क्षमता हो, तो उसके सामने लिखने की कोई समस्या ही न रह जाय। कहा जाता है कि फ्रांसीसी कथाकार फ़्लावेयर कभी-कभी एक उपयुक्त विशेषण पाने के लिए हफ़्तों सोचता रह जाता था। स्पष्ट ही वह अपने में यह शक्ति महसूस नहीं करता था कि किसी भी विशेषण-वाची शब्द को वांछित अर्थ-ध्वनि से संयुक्त कर दे। वस्तुतः साहित्यकार की समस्या होती है—

अनुभव और कल्पना में जन्म लेने वाली, विशिष्ट प्रभाव की वाहक, अर्थ-संहति के अनुरूप भावात्मक ध्वनियाँ रखने वाले शब्दों का अन्वेषण और नियोजन। **रचना में जो शब्द विशेष रोचक होते हैं वे प्रायः परंपरागत अर्थ-ध्वनियों में से ही किसी एक का सहारा लेते हैं। अर्थ-ध्वनि का विशेष परिवर्तन उन्हीं पदों में किया जा सकता है, जिनकी रचनागत स्थिति ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं होती।** इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि रचनाकार की मौलिकता का प्रधान आधार उसके द्वारा संकेतित अर्थ-संदर्भ होता है, न कि अलग-अलग शब्दों के प्रयोग। तुलसी की निम्न पंक्तियों की परीक्षा कीजिए।

पुनि आउब इहि बिरियाँ काली,
अस कहि मन बिहँसी इक आली।

यहाँ पाठक को यह क़तई महसूस नहीं होता कि तुलसीदास **बिरियाँ, बिहँसी** आदि परिचित शब्दों के अर्थ में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित कर रहे हैं। उक्त शब्दों की रोचक अर्थवत्ता का एकमात्र कारण उनका एक अर्थपूर्ण संदर्भ के लिए पूरा-पूरा उपयुक्त होना है।

(४)

संदर्भ के बदले शब्दों पर अधिक गौरव देने के कारण डॉ० चतुर्वेदी, साहित्यिक निर्णय के क्षेत्र में, विचित्र उलझनों में पड़ गये हैं। अपनी स्थापना की पदावली में सीमित रहते हुए उन्हें यह स्वीकार करना पड़ता है कि **मुंशी प्रेमचंद की सफलता का रहस्य समझना आसान नहीं। नितांत समसामयिक परिस्थिति और सरल भाषा के साथ वे उतने ऊँचे उठ सके, इसका भेद जान पाना बड़े समीक्षकों के लिए भी सरल नहीं।** (पृ० ७७) किंतु यह कठिनाई दूसरे समीक्षकों को उस अनुपात में महसूस नहीं हुई है; चतुर्वेदी के वैसा अनुभव करने का कारण उनका मत-विशेष का मोहपूर्ण आग्रह है। जहाँ तक प्रेमचंद की भाषा का प्रश्न है, उसकी दाद जैनेंद्र कुमार जैसे मर्मज्ञ साहित्य-सेवियों ने दी है। प्रेमचंद की भाषा सफल है, क्योंकि वह उनकी विशिष्ट दृष्टि से अनुप्राणित अर्थ-संहति को ठीक-ठीक मूर्त करने में समर्थ है। डॉ० चतुर्वेदी के मंतव्य की ज़्यादा आश्चर्यजनक विफलता उनके उर्दू कविता से संबंधित विचारों में प्रकट होती है। उनका ख़्याल है कि जहाँ हिंदी की काव्य-भाषा व्यंजना को अधिक महत्व देती है, वहाँ **'उर्दू में सीधी-सादी, सहज-सरल भाषा (साफ़गोई) काव्य-विधान के अधिक अनुकूल मानी जाती है, क्योंकि उर्दू दरबार और बाज़ार दोनों की ही भाषा रही है।'** (पृष्ठ ४७) श्री चतुर्वेदी संभवतः यह महसूस करते हैं कि उर्दू काव्य के मूल्यांकन के लिए वे सिद्धांत-सूत्र पर्याप्त नहीं हैं, जो हिंदी और संभवतः अन्य भाषाओं के साहित्यिक मूल्यांकन पर लागू होंगे। यह कथन कुछ ऐसा ही हुआ जैसे यह वक्तव्य कि फारस और अरब के अथवा मुसलमानों के चिंतन को अनुशासित करने वाला तर्कशास्त्र एक है, और योरप अथवा ईसाइयों या हिंदुओं के चिंतन पर लागू होने वाला तर्कशास्त्र दूसरा! जहाँ तक हम जानते हैं, दुनिया के किसी ज़िम्मेदार साहित्य-मीमांसक ने ऐसी विचित्र

बात नहीं कही है। वस्तुतः प्रचलित ऐतिहासिक धारणा यह है कि उर्दू के कवि, विशेषतः ग़ज़ल कहने वाले शायर, भाषा के संबंध में बड़े ही सतर्क होते हैं। नये कवियों में उस्तादों से इसलाह लेने की प्रथा भी उर्दू काव्य-भाषा के विशिष्ट परिमार्जन का एक कारण रही है। उक्त उद्धरण में डॉ० चतुर्वेदी ने 'व्यंजना' की शक्ति का हवाला दिया है; स्पष्ट ही यहाँ वे अपने मंतव्य से अनुगत होने वाले निष्कर्षों पर निर्भर न कर के एक दूसरे सिद्धांत का सहारा ले रहे हैं। इससे जान पड़ता है कि उन्हें अपने मंतव्य की फलवत्ता (फ़्रूटफ़ुलनेस) में आस्था नहीं है। निश्चय ही उर्दू ग़ज़ल के अनोखे आकर्षण का कारण उसके द्वारा खड़े किये जाने वाले संदर्भों की सदाबहार रोचकता है, न कि उसकी सूक्ति-साहित्य से समानता। प्रेमिक और प्रेमिका के संबंध को ले कर चलने वाली नोक-झोंक साहित्य-रसिकों को निरंतर आकर्षक व मनोरंजक लगती है, इसका एक महत्वपूर्ण कारण फ़ायडीय मनुष्य की प्रकृति है। जहाँ दूसरे अर्थ-संदर्भ कालांतर में अपनी रोचकता कमोबेश खो दे सकते हैं, वहाँ शृंगार-भावना से अनुप्राणित उक्त कोटि के संदर्भ निरंतर मनोरंजक बने रहते हैं।

(५)

श्री चतुर्वेदी की एक स्थापना यह है कि आने वाले युग की अपेक्षा से विगत युग की काव्य-भाषा की पदावली या शब्द चुक जाते हैं। अपने 'क्लासिक' संबंधी निबंध में टी० एस० इलियट ने यह मंतव्य प्रकट किया है कि महत्वपूर्ण 'क्लासिक' की रचना करने वाला महाकवि समकालीन भाषा को इतनी पूर्णता से दुह लेता है कि वह भाषा आगे आने वाले कवियों के काम की नहीं रह जाती। हमारे विचार में यह मंतव्य स्थिति का सही विश्लेषण नहीं है। प्रश्न है, हम यह कैसे निर्णय करते हैं कि भाषा के विशिष्ट शब्द चुक गये हैं? और इस चुकने का ठीक अभिप्राय क्या है? क्या उक्त मंतव्य का यह अर्थ लगाया जाय कि उत्तरकालीन कवि पूर्व युग की काव्यगत पदावली का बहिष्कार करके ही आगे बढ़ सकता है? या यह कि वह उन शब्दों को हठपूर्वक भिन्न, नये अर्थों से संपृक्त करे? हम देख चुके हैं कि किसी भी लेखक के लिए यह दूसरा कार्य साध्य नहीं है? कोई भी हिंदी या संस्कृत का लेखक जल, सौंदर्य, श्रद्धा आदि शब्दों के अर्थ में मनमाने परिवर्तन नहीं कर सकता। लेखक सिर्फ़ एक काम कर सकता है—वह प्रचलित शब्दों के प्रसिद्ध अनुषंगों (एसोशियेशंस) की दिशा में परिवर्तन ला दे सकता है। 'रामचरितमानस' में श्रद्धा और विश्वास श्लाघ्य वृत्तियाँ समझे जाते हैं; नया लेखक इन मनोवृत्तियों का मज़ाक़ भी उड़ा सकता है। किंतु इस तरह का परिवर्तन भी आवश्यक नहीं। फ़्रांस के कई महत्वपूर्ण लेखकों ने, और स्वयं इलियट ने भी, कतिपय धार्मिक मनोवृत्तियों का नवोत्सृष्ट संबंधों में नये आग्रह व शक्ति से मंडन किया है। हमारी समझ में सही सिद्धांत यह है कि प्राचीन काव्य-साहित्य में अनुस्यूत अर्थ-संहतियाँ या भाव-संदर्भ कालांतर में बासी पड़ जाते (डॉ० चतुर्वेदी की भाषा में चुक जाते) हैं; फलतः आगे के युगों में वैसे संदर्भों का निर्माण महत्वपूर्ण दिखायी नहीं पड़ता। वह अमौलिक ही नहीं, उबाने वाला भी जान पड़ने लगता है। इसके विपरीत युगोचित नये संदर्भों का निर्माण रोचक दिखायी देता है, और उन संदर्भों को सही-सही खड़ा करने वाला शब्द-

प्रयोग—ऐसा शब्द-प्रयोग जो ग़लत अनुषंगों की ध्वनियों से पूरा-पूरा मुक्त है—श्लाघनीय जान पड़ता है।

यहाँ, अपने अभिमत के स्पष्टीकरण के लिए, हम कुछ व्युत्प्रेक्षाएँ करेंगे। प्रथमतः किसी शब्द (या उपमा, उत्प्रेक्षा आदि) के चुक जाने का यह अर्थ **नहीं** हो सकता है कि वह शब्द (या अलंकार) **स्वयं पुरानी विशिष्ट रचनाओं के संदर्भ में** चुके हुए दिखायी पड़ते हैं। 'बिहारी-सतसई' में प्रयुक्त कोई भी शब्द या अलंकार, अपने तद्गत संदर्भ में, चुका हुआ या उबाने वाला नहीं जान पड़ता। यही कारण है कि हम आज भी बिहारीलाल के शब्द-प्रयोग की खुल कर दाद दे सकते हैं। यही बात विद्यापति, सूर, तुलसी आदि की पदावली पर लागू है। ऊपर हमने कहा—जो चीज़ चुक जाती है वह पुराना संदर्भ होता है। यह नहीं कि कोई महत्वपूर्ण जीवन-संदर्भ (या भाव-संदर्भ) एकदम ही बासी पड़ जाता है। पुराने संदर्भों में भी कुछ अपेक्षाकृत समकालिक मनोवृत्ति के ज़्यादा निकट होते हैं, कुछ कम। 'मानस' के बालकांड की अनेक कथाएँ आज जितनी बासी जान पड़ती हैं, उतना 'मेघदूत' या 'शाकुंतल' नहीं। वास्तव में कोई पुराना संदर्भ अपने प्रभाव के लिए जितना अधिक जीवन की अपेक्षाकृत स्थायी स्थितियों पर निर्भर करता है, और तत्कालीन रूढ़ियों और विश्वासों पर जितना कम, वह बाद के युगों में उतना ही अधिक ग्राह्य बना रहता है। साथ ही यह भी सही है कि एक बड़ा साहित्यकार और उसकी रचना अपेक्षाकृत अधिक सांस्कृतिक आयामों को छूते हैं। **कोई भी प्रौढ़ सांस्कृतिक परंपरा,** जिसमें विश्वासों व मान्यताओं की परंपरा समावेशित रहती है, **अपने ढंग से, जीवन के सूक्ष्मतर चित्रण में सहायक होती है।** इसका मतलब यह हुआ कि श्रेष्ठ कलाकार की रचना सांस्कृतिक दृष्टि से भी समृद्ध होती है; साथ ही वैसा कलाकार जीवन के सार्वभौम तत्वों का भी अधिक सघन समावेश करता है। श्रेष्ठ रचना की ये दोनों ज़रूरतें या विशेषताएँ परस्पर विरुद्ध दिखायी दे सकती हैं, किंतु सच यह है कि, अंतिम विश्लेषण में, प्रत्येक प्रौढ़ विचार-परंपरा **जीवन की बारीकियों एवं जटिलताओं को पकड़ने का अस्त्र-मात्र** होती है।

हमने कहा कि जो चीज़ चुक जाती या बासी पड़ जाती है, वह होती है विश्वासों या आस्थाओं की शृंखला। कहा जाता है कि उपन्यासगत कथानक आदि का अनुशीलन करते हुए अभ्यस्त पाठक अपनी अविश्वास-भावना को अवरुद्ध रखता है। यह सही और उचित है। किंतु यह कहना ग़लत होगा कि वैसा पाठक रचनाकार के शब्द-प्रयोग के औचित्य को नहीं आँकता। यदि पुरानी रचना में प्रयुक्त शब्दावली चुकी हुई दीखने लगे, तो कोई भी पाठक वहाँ रस का अनुभव न करे। मतलब यह कि कालिदास, सूर आदि की रचनाओं में प्रयुक्त पदावली, अपने-अपने संदर्भों के अंतर्गत, **सार्थक** और **सटीक** दिखायी देती है—न कि किसी भी अर्थ में चुकी हुई। ऐतिहासिक सहानुभूति की अपेक्षा पुराने अर्थ-संदर्भों को होती है, न कि उन्हें उत्थित करने वाले शब्द-समूहों को; और यदि आज वे संदर्भ भी हमारा रसोद्रेक करने में समर्थ जान पड़ते हैं, तो इसका कारण उनमें सर्वत्र ओत-प्रोत जीवनानुभूति का सार्वभौम तत्व भी है। पुरानी पदावली समकालीन साहित्य में सन्निवेशित हो कर चुकी हुई वहीं दिखायी पड़ती है, जहाँ वह विगत आस्थाओं, अनुषंगों और अर्थ-संदर्भों का पल्ला पकड़े रहती है।

(६)

ऊपर हमने विगत साहित्य के आस्वादन से संबंधित नितांत जटिल परिस्थिति का, उसके भाषा-तत्व की सापेक्षता में, विश्लेषण करने का प्रयत्न किया। अब हम उस विश्लेषण के कतिपय निष्कर्षों का विशेष उल्लेख करते हुए उनकी सार्थकता पर टिप्पणी करेंगे। हिंदी की समसामयिक आलोचना, और डॉ० चतुर्वेदी की पुस्तक, साहित्य की जिस विशेषता पर विशेष बल देते हैं वह है—नयापन, नवीनता या मौलिकता। प्रचलित धारणा के अनुसार मौलिकता या नवीनता का प्रमुख क्षेत्र या आधार शब्दों का नया-निराला—यानी पुरानी अर्थ ध्वनियों या अनुषंगों से अधिकाधिक मुक्त—प्रयोग है। इस अतिरंजित गौरव का एक फल यह हुआ है कि पाठक और आलोचक विभिन्न कवियों की व्यक्तिगत विशेषताओं की छानबीन न कर के उनकी सामूहिक समानताओं की अधिक चर्चा करते हैं। यह चर्चा एक वाद का और वाद के अंतर्गत आने वाली विशेषताओं के महत्व-स्थापन और प्रचार का कारण बन जाती है। इसका एक नतीजा यह होता है कि आशु ख्याति के लोभ से नये लेखक जल्दी से जल्दी प्रचलित काव्य-साहित्य की बहुप्रचारित, अपेक्षाकृत बाहरी विशेषताओं पर अधिकार करने की कोशिश करते हैं। साथ ही वे अच्छे लेखन की दूसरी विशेषताओं की उपेक्षा भी करते हैं। नयापन या नवीनता निश्चय ही अच्छे साहित्य का आवश्यक गुण है; किंतु नवीनता के अनेक आयाम होते हैं, और वह इतनी सतही चीज़ नहीं कि आँख खोलते ही दिखायी देने लगे। अच्छे साहित्य में शक्ति और गहराई भी होनी चाहिए; उसमें रचनात्मक मौलिकता का —उस मौलिकता का जो सिर्फ़ पुराने अनुषंगों व अर्थ-ध्वनियों का निषेध या बचाव मात्र नहीं है—अंतरंग समावेश रहना चाहिए;—इन पर उचित थोड़ा-बहुत गौरव भी नहीं दिया जा रहा है। और इस कोटि की मौलिकता की उपलब्धि के लिए लेखक में जिस संश्लिष्ट, सूक्ष्म सांस्कृतिक चेतना, जिस गहरी दृष्टि और सचाई, की अपेक्षा होती है उसका उल्लेख भी नहीं हो पाता। आज हालत यह है कि वादनिष्ठ सामान्य तत्वों से भिन्न स्थायी साहित्य की उन विशेषताओं पर, जो लेखक-विशेष को व्यक्तित्व-संपन्न और निरंतर विकासमान बनाती हैं, लेखकों और आलोचकों दोनों ही का ध्यान नहीं जाता। यह स्थिति इसलिए और भी चिंताजनक हो जाती है कि पिछले चार-पाँच दशकों में—छायावाद के उत्थान-काल से ही—हिंदी आलोचना अपने चिंतन और व्यवहार में उक्त सीमाओं को लादे हुए बढ़ती रही है। ऐसा जान पड़ता है कि हिंदी के आलोचक-मस्तिष्क की उपलब्ध ऊर्जा, प्रत्येक वाद के प्रचार व प्रसार की कालावधि में, कुछ इने-गिने सूत्रों को ले कर ही व्यापृत हो पाती है। वह उस अतिरिक्त शक्ति का प्रमाण प्रायः नहीं दे पाती जो, समसामयिक रुचियों और पक्षपातों से ऊपर उठ कर, काव्य-साहित्य की महत्ता के अपेक्षाकृत ज़्यादा स्थायी तत्वों की छानबीन करती है। छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि के उत्कर्ष-कालों में हिंदी समीक्षा क्रमशः अनैंद्रिक सूक्ष्मता और रहस्यवाद, सामाजिक उपयोगितावाद, शिल्पगत नवीनतावाद आदि के संकीर्ण सूत्रों से अपना काम चलाती रही है।

डॉ० चतुर्वेदी ने समसामयिक काव्य पर टिप्पणी करते हुए लिखा है: **यह एक काफ़ी**

स्थूल स्थिति है कि नयी कविता के अधिकांश कवि—नये और पुराने—अब चुके और बीते से दिख रहे हैं। वे अब अपने को ही दोहरा रहे हैं। उनमें किसी नयी दिशा का संधान नहीं दिखता, और न उसके लिए किसी प्रकार की आकुलता ही। (पृ० ६३)। लेकिन उन्होंने यह संकेतित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया है कि इस 'दिशा-संधान' की दिशा या रूप क्या हो सकता है। उन्होंने 'अज्ञेय' के भाषा-प्रयोग की उत्साहपूर्ण—और उचित—प्रशंसा की है, किंतु वे कहीं इस असुविधाजनक प्रश्न को उठाते नहीं दीखते कि : क्या 'अज्ञेय' के काव्य में कहीं गति-रोध के लक्षण दीखते हैं; और यदि हाँ, तो क्यों? प्रयोगशील एवं नये काव्य के इस प्रतिष्ठित पुरोधा के स्वयं अपने काव्य में किस सीमा तक विकास हुआ है, और कहाँ उसकी प्रगति रुक गयी है?

ऊपर के प्रश्न हिंदी काव्य और आलोचना दोनों की प्रगति की दृष्टि से महत्व रखते हैं। हम 'अज्ञेय' को एक महत्वपूर्ण लेखक और कवि मानते हैं। साथ ही हमारा विचार है कि वे साहित्यिक उपलब्धि की उच्चतम भूमि से अभी दूर हैं। उनकी उपलब्धि पंत, प्रसाद आदि से कुछ भिन्न कोटि की है; किंतु वे प्रमुख छायावादी कवियों से विशेष ऊँची उपलब्धियाँ कर सके हैं, यह कहना सही न होगा। उनका कृतित्व अभी रवि बाबू के धरातल को छूता हुआ दिखायी नहीं पड़ता।

हमारे विचार में 'अज्ञेय' की जितनी प्रशंसा हुई है, उतना उनके कृतित्व का सही विश्लेषण नहीं हो सका है। यहाँ हम बहुत संक्षेप में उनके कृतित्व पर टिप्पणी करेंगे। 'अज्ञेय' की श्रेष्ठ रचनाएँ जहाँ एक ओर उनकी निजी संवेदना को सही-सही और संगत रूप में उपस्थित करती हैं, वहाँ वे अपने रचयिता के सूक्ष्म-संश्लिष्ट सांस्कृतिक व्यक्तित्व को भी उपयुक्त अभिव्यक्ति दे पाती हैं। अवश्य ही 'अज्ञेय' में कहीं-कहीं अटपटी, असाधारण और नयी-निराली व्यंजनाओं का मोह है, किंतु कुल मिला कर वे एक ईमानदार लेखक हैं, जिनके रचना-प्रयत्न का लक्ष्य अपनी सूक्ष्म संवेदना एवं जटिल सांस्कृतिक चेतना को व्यक्त करना होता है। यह नोट करने की बात है कि इधर के अधिकांश कवियों की अपेक्षा 'अज्ञेय' अधिक अधीत और विचारवान व्यक्तित्व वाले लेखक हैं; वे संस्कृत के भी अच्छे जानकार हैं। कालिदास के काव्य और उसके सांस्कृतिक बोध से कई छायावादी कवि भी सुपरिचित थे ; किंतु 'अज्ञेय' के संस्कृति-बोध में उदात्त भारतीय परंपरा के साथ-साथ आधुनिक वैचारिक चेतना का भी समावेश है। इधर के कवियों में वे विशेष मौलिक दिखायी पड़ते हैं, इसका प्रधान कारण उनके सांस्कृतिक बोध की सूक्ष्मता और विविधता है। इधर लक्ष्य किया गया है कि कविता में तनाव की भावना उसे रोचक बना देती है; यह तनाव मुख्यतः मूल्यों की द्वंद्वात्मक या विरोधग्रस्त चेतना का प्रतिरूप होता है। अनेक भिन्न या विरोधग्रस्त विचारधाराओं का परिचय नाटकीय तनाव की स्थितियों की प्रकल्पना में सहायक होता है। इस दृष्टि से 'अज्ञेय' का काव्य, छायावादी काव्य की अपेक्षा में, अधिक सांस्कृतिक संपन्नता लिये हुए है। यहाँ इस वक्तव्य को पल्लवित करने का समय नहीं है। किंतु हमारी धारणा है कि प्रयोगवाद और नये काव्य के अधिसंख्यक प्रशंसक व नेता लेखक, जो देखने में 'अज्ञेय' जैसी या उससे भी आगे की नयी भाषा लिखते हैं, यदि उतना बढ़िया काव्य नहीं दे पाये हैं तो इसका प्रधान कारण उनकी आपेक्षिक सांस्कृतिक दरिद्रता है। 'अज्ञेय' की अधिकांश

कविताओं में कोई ऐसी 'बात' कहने या संप्रेषित करने का प्रयत्न रहता है, जो संस्कृतिसंपन्न रुचि को दिलचस्प जान पड़ती है; यह तत्व बहुत से तथाकथित नये कवियों में उपलब्ध नहीं होता। चूँकि उन्हें केवल भाषा के नाम पर वादमूलक प्रशंसा मिल जाती है, इसलिए वे यह सोचना संभव नहीं पाते कि उनके व्यक्तित्वों को उपयुक्त सांस्कृतिक विकास की अपेक्षा है—यानी सोचने और महसूस करने के तरीक़ों में सहज, अकृत्रिम, एक केंद्रीय गौरव की ओर उन्मुख द्वंद्वात्मक—विविधता के जटिल तनाव से संयुक्त—मनोवृत्ति की। यह मनोवृत्ति सिर्फ़ अनुकरणात्मक धरातल पर, कतिपय शब्दों या शब्द-प्रयोगों को आत्मसात कर लेने से नहीं उपलब्ध हो जाती, वह महत्वपूर्ण सांस्कृतिक परंपराओं के गहरे परिचय में ही उद्भूत हो सकती है। बात यह है कि—जैसा कि नर-विज्ञानियों ने लक्ष्य किया है —मौलिकता का प्रमुख रूप अवगत तत्वों के नये संस्थानों (अर्थ-संहतियों, संदर्भों) के निर्माण में प्रकट होता है, न कि एकदम नयी उद्भावनाओं में। वैसी उद्भावनाएँ प्रायः सशक्त सृष्टि का रूप नहीं ले पातीं।

हमने कहा कि 'अज्ञेय' के काव्य की आपेक्षिक महत्ता का प्रधान हेतु उनके व्यक्तित्व की सांस्कृतिक संपन्नता है। यह संपन्नता उनके अध्ययनशील व्यक्तित्व में बहुत कुछ स्वतः आयी है। किंतु अपने सचेत प्रयत्न में 'अज्ञेय' प्रायः प्रयोग और नवीनता का अन्वेषण करते रहे हैं। इससे जहाँ उन्हें सामयिक वाहवाही खूब मिली है—अधिकांश में ऐसे लेखकों और आलोचकों से जो अपेक्षाकृत दुर्बल व्यक्तित्व वाले थे और इसलिए सहज ही स्वयं 'अज्ञेय' के अनुयायी तथा प्रवक्ता बन गये;—वहाँ उनकी एक बड़ी क्षति भी हुई है, वह इस रूप में कि उनका सांस्कृतिक विकास एक बिंदु तक पहुँच कर अवरुद्ध हो गया। फलतः उनके काव्यगत विकास में भी बाधा पड़ गयी। इसके फलस्वरूप, जहाँ उनकी रचनाएँ अलग-अलग महत्वपूर्ण जान पड़ती हैं, वहाँ वे समन्वित रूप में पाठकों के मन पर कोई बड़ा प्रभाव नहीं छोड़ पातीं। इस दृष्टि से रवि बाबू की रचनाएँ, आकार में गीतात्मक होते हुए भी, अधिक एकतायुक्त व समन्वित हो सकी हैं। उनकी 'उर्वशी' जैसी रचनाओं में उनके द्वारा साक्षात्कृत विभिन्न मूल्यों का तारतम्य और पारस्परिक द्वंद्वात्मक तनाव विशेष सघन एवं सशक्त रूप में अभिव्यक्ति पा सका है। यों स्वयं रवि बाबू भी उच्चतम कक्षा के कवि नहीं हैं। उनमें जहाँ कुछ मूल्यों का सबल साक्षात्कार पाया जाता है, वहाँ जीवन और उसके मूल्यों की द्वंद्वात्मक चेतना विशेष विकसित व सप्राण नहीं हैं।

निष्कर्ष रूप में हम कहेंगे कि डॉ० चतुर्वेदी का भाषा-विश्लेषण सूक्ष्म एवं उत्प्रेरक होते हुए भी काफ़ी हद तक अधूरा है। अपने विश्लेषण को अधिक पूर्ण बनाने के लिए उन्हें दो काम करने पड़ेंगे, एक, इतिहास-सिद्ध साहित्यिक मूल्यांकनों का अपने मंतव्यों की परिधि में समावेश; और दूसरे, उन मंतव्यों के अंतर्विरोधों का परिहार करते हुए इसका प्रमाण देना कि उनकी केंद्रीय स्थापना समकालिक साहित्य की शक्ति और अशक्ति दोनों का विश्वसनीय विवरण उपस्थित कर सकती है। हमारे विचार में यहाँ प्रस्तुत किया गया संदर्भवाद का सिद्धांत उनके विचारों का उतना विरोधी नहीं, जितना कि संपूरक है।

—दर्शन-विभाग,
हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५।

रामदरश मिश्र

समय देवता

दस्तकें....
फिर दस्तकें....
....

मेरा नाम-पट्ट जूते के फटे तल्ले-सा औंधा लटक रहा था
और पल्ले पर कसा था एक दूसरा नाम

दरवाज़े पर खड़े थे एक वृद्ध
श्वेत श्मश्रु, श्वेत केश, श्वेत वस्त्र...
और साथ में एक मरियल यौवन था
ऊपर से नीचे तक पहने हुए प्रमाणपत्रों का
नक़ाब...

कील-उभरे तल्ले-सा
मेरा नाम-पट्ट कमरे के पाँवों में गड़ा लटक रहा था
और मैं टँगा था
अजनबी आकाशों के बीच
ठहरे हुए पलों को झेलता हुआ

चौंको मत
झूलो मत विकल्पों में
मैं समय देवता हूँ——
तुम्हारी नियति...

'समय देवता!'
चलते-चलते जैसे नंगे पाँवों में जलती सिगरेट
धँस गयी हो

'समय देवता!'
'हाय रे छली!'
कब तक तुम्हारा पालिश-सा आरोपित यह देवत्व
अपनी नियति बना कर लादे फिरें?

देखो न देवता!
पालिश जगह-जगह से उखड़ गयी है
और तुम्हारा देवत्व घिनौना बन
तुम्हीं को लील रहा है

ओ बहुरूपी संत
सुनता आया हूँ
पढ़ता आया हूँ
तुम्हारा न्याय बड़ा निष्ठुर है
तुम्हारी न्याय की तुला पर
राजा-रंक
पर्वत-पंक
समान भाव से तोले जाते हैं

बड़े-बड़े पर्वतों को मसल देते हो सूखे पत्तों-सा
बड़े-बड़े साम्राज्यों का शीशा
तुम्हारी एक साँस की आँच से
चिटक कर टूट जाता है
टुकड़ों-टुकड़ों में खंडित प्रतिबिंब
ज़ख्मी चिड़ियों-से हाँफते हैं, फिर ठंडे हो जाते है...
बड़े-बड़े रावण, महिरावण, कंस, मुसोलिनी, सिकंदर
तुम्हारी मुट्ठियों की क़ब्र में दुबक कर सो जाते हैं
मच्छड़ों की तरह
दिग्विजय के कितने ही अश्व
तुम्हारी धारा में डूब कर किनारे उतरा जाते हैं
जैसे लौटती बाढ़ में मरी हुई मछलियाँ...
बड़े-बड़े महल
सपने देखते-देखते जब जागते हैं
तो पाते हैं कि दीवारों पर

कुछ शरारती लड़कों ने तमाम लकीरें खींच दी
हैं कोयले से
और इश्तहारों पर इश्तहार चिपका दिये गये हैं
भू-मंडल, खमंडल
लट्टू की तरह नाचते हैं तुम्हारी हथेलियों पर
जिसमें भीतरी शक्ति होती है
वह जीता है इस गति में योग देता हुआ
बाक़ी पलीट-विंधी मक्खियों की तरह
ऐंठ कर गिर जाते हैं

तुम्हारा न्याय बड़ा निर्भय है देवता!
सुनता आया हूँ
लेकिन सुनो देवता
एक राज़ की बात कहूँ—
(शायद तुम्हारी बुज़ुर्गियत, आरोपित देवत्व
मेरी हिमाक़त पर आक्रोश से तड़प उठे)
तुम्हारे काँपते हाथों ने
तराज़ू का पलड़ा
हमेशा झुका दिया है उस ओर
जिस ओर गेंहुवन साँपों का समूह
कुंडली मारे बैठा होता है गड़े रत्नों पर
आराम से चूहों को पान की तरह चुभलाता हुआ

तुम्हारी बाढ़ों ने
खेतों में फैले पसीने के फूलों को निगला है
बखारों में या गोदामों में बंद राशियों को नहीं
तिजोरियों और बैंकों में बंद जड़ सिक्कों को नहीं

तुम्हारी नदियों के अजगरों ने
घाटियों में बसी गंदी झोपड़ियों को
पतिंगों की तरह चाट लिया है
पहाड़ों की तरह कठोर दीवारों पर
फन पटक-पटक कर लोहूलुहान लौट गये है

तुम्हारे पथरीले तूफानों ने
बसंत की अगवानी करते बौरों के सिर फोड़े हैं
गीत गाने के लिए तैयार
कोयलों के पंख तोड़े हैं
और खलिहानों में जाने के लिए
दुलहिन-सी सँवरती फसलों की अस्मत लूटी है

तुम्हारी महामारियों ने
ग़रीब बस्तियों को कीड़ों की तरह मारा है
हवेलियों के चारों ओर तो तुम स्वयं खड़े रहे हो
'एन्टी जर्म्स' दवाएँ छाँटते हुए
इंजेक्शन देते हुए...

तुम्हारी लड़ाइयों में मरे हैं वे सिपाही
जो अंधी माताओं और नवपरिणीता बहुओं को छोड़ कर
मोरचे पर गये थे रोटी के लिए
वे बादशाह या नेता नहीं
लड़ाई जिनके लिए शौक़ थी
अंधी अभिव्यक्ति थी जिनके घृणा-पूजक नृशंस अहं की

तुम्हारे सांप्रदायिक दंगों में
मारे गये हैं राह चलते वे अजनबी
सुबह को जाना और शाम को लौटना
जिनके लिए एक विकल मजबूरी थी
अपराधी तो मज्जा-पायी कीड़ों की तरह
मांस का एक हबोट्टा मार कर
अंधी गलियों में बंद हो जाते रहे हैं
जलती आँखों से घूरते हुए
और अट्टहास करते रहे हैं
धर्म के पवित्र परदे के पीछे छिपे सभ्य लोग

और देवता
तुम देखते रहे हो

अनासक्त हो कर
नहीं-नहीं, आसक्त हो कर

कहते हैं ––
समय अनुभूति है
सूर्य का उगना दिन नहीं है
उस उगे हुए को शिराओं की गति में पाना दिन है
सूर्य का बुझना रात नहीं है
उस बुझे हुए को
मन के अनकहे सन्नाटे के बीच पहचान लेना रात है
पानी तो बहुत बहता है
लेकिन जितने को हम घड़े में बाँध पाते हैं
उसे ही तो जानते हैं
शेष तो बह जाता है अनस्तित्व अनजाना
और ओ समय देवता,
जो भोगा हुआ हमारा सत्य है
(यानी तुम हो)
वह तो क्वार की धूप-सा हमारी नंगी त्वचा में
चिनचिना रहा है युगों से––

तब भी लाख-लाख गुलामों की रक्त-पिच्छल पीठ
तुम्हारे कोड़ों की तिक्तता से पिराती रही है
आज भी पिराती हैं छाती की शिराएँ
तुम्हारी सर्द हवाओं की चुभन से
जो तुम्हारे प्रभुओं के चरण-धुले जल में
भीग कर आती हैं...

बेईमान दलाल की तरह
चिमनियों का सारा प्रकाश
भीतर-भीतर प्रवाहित कर देते हो परोपजीवी बँगलों की ओर
और पइया की तरह सारा तीखा धुआँ
झोंक देते हो झोपड़ियों की आँखों में––
जिनमें जगमगाते सपने
मछली की तरह छटपटा कर दम तोड़ देते हैं

देवता,
संवेदना, ज्ञान, प्रकाश
तुम्हारे शस्त्र रहे हैं
(आज भी हैं)
संवेदना और ज्ञान काँपते रहते हैं प्रकाश में
निरंतर कुछ रेखाएँ खींचने को—
अंधी चट्टानों पर
और एकाएक अंधकार का एक बड़ा भारी टुकड़ा
टूट कर ढक लेता है उन्हें
और वे दीवारों से सिर टकरा-टकरा कर
टूटते रहते हैं
रह-रह कर हाँफते प्रकाश के नीचे...
और तुम
तुम गैंडे की खाल बन ढक लेते हो
अपने प्रभुओं के तन को, मन को
और उन्हें समझाते हो––
संवेदना, ज्ञान और प्रकाश तो दर्द हैं
अंधकार बनो और बन कर टूटो

जैसे बाढ़ देखते-देखते
तमाम पद-चिह्नों को निगल लेती है
वैसे ही अंधकार क्षण भर में
चबा जाता है उन रेखाओं को
जिन्हें दिन खींच गया होता है हृदय की ऊष्मा से

और तुम्हारे शास्त्र
पाठ पढ़ाते हैं पिसती हुई हड्डियों को
चट्टान के नीचे दबे बिरवे को:
धीरज धरो
समय देवता का न्याय बड़ा निर्मम है
सत्य विजयी होगा

समय,
मैं जानता हूँ, वह समय कभी नहीं आया

एक असत्य दर्प टूट कर गिरा
तो सौ उठ खड़े हुए
—कामरूप तमचर—
दुखती रगों को रौंदते हुए
दिग्विजय के अश्व-सा बेतहाशा दौड़ते हुए
जब असत्य दर्प घड़ा भर जाने पर फूटे हैं
या सत्य की शक्तियों ने मिल कर उन्हें फोड़ा है
तब तुम्हारे भक्तों ने हल्ला किया है
कि तुम्हारे न्याय-दंड ने फोड़े हैं घड़े वे
... ...

और वे असत्य दर्प
बुझते हुए दिन की तरह गिरते-गिरते भी
लादते गये आदमी की पीठ पर
अपनी छायाओं के पिरामिड, मीनार, मक़बरे, मठ...
(कुंभकर्ण की लाश के नीचे
असंख्य बानर-भालू दब गये थे)

बहुरूपी संत,
तब तुम राजाओं के दरबार में
ताम-झाम लगाते थे
रेशम की पगड़ी बाँधते थे—वज़ीरे आज़म थे न!
आज नयी सत्ताओं के पुरोहित हो
शुद्ध श्वेत वस्त्र पहने हुए

जब एक देश दूसरे पर हमला करता है
तब तुम ज़ोर-ज़ोर से चीखते हो—
देश ख़तरे में है
लाखों ग़रीबों की जीवन भर की कमाई
उत्तेजित कर निकाल देते हो
लाखों माँ-बापों के आधार-स्तंभ ढाह देते हो
संकटकालीन स्थिति का ऐलान कर
ग़रीबों की पीठ पर मँहगाई और करों की
सड़कें बिछा देते हो
जिन पर से तुम्हारे प्रभुओं के घोड़े

जूथ बाँध कर जा सकें---सुरक्षित हिहिनाते हुए
और अपने ऐलान पर छिप-छिप कर मुसकराते हो
तौलते हुए भारी जेबों को रह-रह कर हाथों से

'देश को खतरा है'
देश कौन है प्रवंचक !
खतरा किसे होता है छली !

खतरा होता है उन तिजोरियों को
संकट के समय भी जो मुँह बंद किये सोती रहती हैं
और ऊँघते चौकीदार-सी चौंक-चौंक चिल्लाती रहती हैं
जागते रहो पहरुए. . .
. . .और अँधेरे में और मोटी होती जाती हैं
खतरा उन रहनुमाओं को होता है
जिनका कोई भी भाई-भतीजा मोरचे पर नहीं जाता
और न जिनकी तनखाह की एक पाई आहत होती है
जो मरने के लिए नहीं, मरने वालों को तमग़ा
बाँटने को श्मशानों पर जाते हैं

खतरा उन्हें होता है
जो भीतर की सड़ाँव पर सात्विक कपड़े सिल कर
सजातीयों को गद्दियाँ लुटाते हैं
शिक्षा के रस को निचोड़ कर
शराब की तरह पीते हैं
दूसरों की पीठ पर जीते हैं

खतरा उन्हें होता है
जो भगवान की खोखली मूर्ति में
पैसे भर कर रखते हैं
और पूजाघरों के बंद तहखानों में
(जिनके द्वारों पर 'व्यक्तिगत' लिखा होता है)
रक्तपायी हथियारों को पालते हैं
प्रेम, करुणा का पानी चढ़ा कर

जनता को क्या,
वह तो अपना सब कुछ दे कर भी जहाँ की तहाँ रहती है
उसके खेतों में (यदि हैं तो)
आज भी आसमान ओला, पाला, सूखा
और बाढ़ बरसाता है
उसकी दीवारों को तोड़ कर
बरसाती पौधों की तरह भूख उगती है
उसकी छतों पर चढ़ कर
आज भी वैसे ही रात रोती है
जँगलों से वैसे ही खाली दिशाएँ झाँकती हैं
बच्चे वैसे ही गँवई स्कूलों में पढ़ कर
'पब्लिक'-परीक्षाओं के लिए मूर्ख क़रार दिये जाते हैं
—'सभ्याचरणविहीन, अंग्रेज़ीविहीन. . . .
राजपथों (जिन पर से चिकनी ज़िंदगियाँ
कारों-सी उड़ जाती हैं पीछे बदबू छोड़ती हुई)
के किनारे प्रवाह से छूटे हुए गाज-सा
—गंदा जीवन बजबजाया करता है
मजबूरियाँ वैसे ही हाथ फैलाये
चौरस्ते पर खड़ी हैं

तुम्हारी नक़ली भीड़ में
अजनबी हाथों की खींच-तान से
जो मूर्तियाँ टूट जाती हैं
उनके टुकड़ों को वैसे ही चुनता रहता है वह शिल्पी
अकेला. . .
और ऊपर से पाँव गुज़र-गुज़र जाते हैं. . .
शहर-क़स्बों के बीच की तंग गलियाँ
वैसे ही घूमती रहती हैं शाम के खाली क़हक़हों के बीच
फिर लौट कर थकी सी सो जाती हैं ख़ामोश. . . .
गंदी नालियों को छाती से चिपकाये हुए
और किनारे
एक में जुड़े मगर आपस में कटे हुए मकान
कभी-कभी एक दूसरे का खाँसना सुन लेते हैं
. . . .

और आज तुमने यह नया नाम-पट्ट लगा दिया है
इस ठहरे हुए जल का
जो अपनी सतह पर भनभनाते कीड़ों के ऊपर
प्रमाणपत्रों का सफेद फेन पहने हुए है

बाँधो समय देवता,
बाँधो इस तट के खूंटे से
मेरा क्या,
मेरा तो कोई भी तट अपना नहीं हुआ
मैं तो वह जल हूँ
जो भँवर बन कर क्षण भर के लिए कहीं ठहरा भी
तो दूसरे क्षण फिर बह निकला....

●

पी० जी० डी० ए० वी० कॉलेज,
नयी दिल्ली।

शिवप्रसाद सिंह

नान्यः पंथाः

सामने के दरवाज़े से वह मटमैली चहारदीवारी दीखती है। यह इस पुराने मकान की पुरानी हद है। इस तरफ़ दालान में मैं हूँ, सामने उस तरफ़ आँवले के दो पेड़ और उनके बीच नीम की नयी छितनार गाछ। ऊपर साफ़ नीला आसमान है। डूबने के पहले के सूरज की मुलायम चिकनी रोशनी। दरवाज़े के बाजू में टँके तिकोने आसमान में कुछ पंछी उड़ते हुए चले जाते हैं। वे कहीं से आ रहे हैं, कहीं जा रहे हैं। ऐसा ही रोज़ होता है। वे ही पेड़, वही आसमान, वही हवा। फ़र्क़ सिर्फ़ पंछियों में होता है, उनके उड़ने के ढंग या तरीक़े में नहीं। मैं भी वही हूँ। वही। कितना वही? यह मैं खुद नहीं जानता, क्योंकि सोचने या चिंता करने का काम रंगों के घोल में कपड़ा डुबाने जैसा नहीं है कि डूबने के निशान शिनाख्त बन कर साक्षी दे सकें। इसलिए मैं यदि चाहूँ भी तो अपने तन-मन पर पड़ी रंगों की पर्तों को अलग कर के नहीं दिखा सकता। कुछ भी कहीं रँगा नहीं है, सब कुछ तो वही है, पर लगता है कि कहीं कुछ बदल गया है। कुछ हो रहा है, जो पकड़ में नहीं आता।

यह कितने अफ़सोस की बात है कि मैं एक साहित्यकार हूँ, गांधी के देश का नागरिक; पर—मैं युद्ध चाहता हूँ। युद्ध—युद्ध—युद्ध—

एक विदेशी पत्रकार ने बड़े व्यंग्य से लिखा कि हिंदुस्तान के शहरों में, रेडियो से युद्ध के समाचार सुन कर लोग खुशी से तालियाँ बजाते हैं। उन्हें युद्ध का अर्थ नहीं मालूम। युद्ध का सही अर्थ यूरोप से पूछो, उस यूरोप से, जिसके बीमार, जर्जर शरीर पर आज भी बारूदी लपटों के बदबूदार चकत्ते उभरे हुए हैं ..।

किंतु इस युद्ध ने जो बहुत से अवबोध हममें जगाये हैं, उनमें एक यह भी तो है कि लोकतंत्र के जन्मदाता, व्यक्ति-स्वातंत्र्य की शपथ का ढिंढोरा पीटने वाले पश्चिमी अखबारों के संवाददाता असल में युद्ध की विभीषिका से उतना परेशान नहीं हैं, जितना इस बात से कि रातों-रात एक भारी-भरकम शरीर वाला गजराज अंकुश की अवहेलना कर इस तरह अचानक दहाड़ कैसे उठा! और गोरे साहब लोग जो बगल में कैमरा लटकाये थर्मस में कॉफ़ी भरे बड़ी उमंग से, हौदे पर उठँग कर, गर्वीली मुस्कराहट में खोये-खोये, शिकार के नाम पर घने जंगल में पिकनिक के लिए निकले थे, लुढ़क कर नीचे गिर गये, पहले तो महावत पर तमतमाये, तभी हाथी ने सूँड़ उठा कर फिर चिग्घाड़ ली, तो वे परेशान, भयभीत पेड़ के तने के पीछे दुबक कर फुसफुसाये—पागल हो गया है शायद। देखो न कैसा सूँड़ उठा कर, धूल के गुबार फेंकता, गुरगुरा रहा है। स्वतंत्र सत्ता

के बोध का यह प्रथम गुरग्गुरावर्त कल्लोल सुन कर उन्हें पसीना छूटने लगा--और वे वहाँ से भाग कर होटलों में लौट आये और सारे संसार में ढिंढोरा पीटने लगे कि भारत पागल हो गया है। युद्ध चाहता है। हाँ, हम युद्ध चाहते है। स्वतंत्र राष्ट्र का यह प्रथम गुरग्गुरावर्त कल्लोल हमें विश्वास दे...कि युद्ध के अलावा कोई पथ शेष नहीं है...।

युद्ध बुरा होता है, बेहद बुरा, इसे हम भी जानते हैं। उस दिन राष्ट्र के नायक बूढ़े दार्शनिक ने कितनी संजीदगी से कहा था--**हम युद्ध नहीं चाहते, हम इस व्यर्थ के रक्तपात को रोकना चाहते हैं, जो हमारे दोनों देशों की तरुणाई के फूलों को मसल रहा है। हमें बर्बादी और ध्वंस से घृणा है। युद्ध कुटुम्बों को छिन्न-भिन्न करता है, मानव साधन और शक्तियों को ध्वस्त करता है और अनिवार्यतः हमारे बीच से नौजवानों को छीन लेता है। आत्मरक्षा के लिए आवश्यक युद्ध भी एक बुरी चीज है और मानवता के लिए खतरा है। यह किसी के लिए भी अच्छा नहीं होता क्योंकि यह कड़ुवाहट, संदेह और भय को जन्म देता है तथा मानव-निर्माण के सारे प्रयत्नों को असफल बनाता है।**

युद्ध के दौरान इस बूढ़े दार्शनिक ने क्षत-विक्षत राष्ट्र के नाम तीन-तीन संदेश प्रसारित किये। प्रत्येक बार मैंने अनुभव किया कि जोश को ग़लत दिशा में बहने से रोकने के लिए किसी ने ज्योति का रक्षा-कवच दे दिया है। प्रत्येक बार जैसे यह थरथराती हुई आवाज़, सीने में संपूर्ण मानवता की मंगल-कामना और उच्चता के भावों को समेट कर, गोलियों की बौछार और लपटों की लपेट से जूझते हमारे नौजवानों के शीश पर वरदहस्त रख कर कह रही है कि **मामनुस्मर युद्ध च।** स्मरण उसका जो हमारी मानवता की अखंड यात्रा का ध्रुव विंदु रहा है--स्मरण स्वतंत्रता का, सत्य का, धर्मनिरपेक्षता का, न्याय का, मानव-नियति और विश्व-बंधुत्व का, किंतु जहाँ ये भाव और आदर्श ही उन्मूलन के खतरे से घिरे हों, वहाँ बस एक ही रास्ता है, अंतिम स्वाभिमानपूर्ण मनुष्यत्व का रास्ता—युद्ध! युद्ध!! युद्ध!!!

मैं जानता हूँ कि ऐसी निमग्नता के साथ युद्ध का समर्थन साहित्यकार के कर्म और धर्म के विपरीत है। मेरी आत्मा में खुद अपने ही मानस से उत्पन्न इस बोध के प्रति घृणा और ग्लानि का भाव जग पड़ता है। एक क्षण के लिए मैं अजीब उदासी की लहर में घिर जाता हूँ। सहज जीवन की शांति (भले ही वह शांति मुर्दनी का ही रूप हो) और एक उद्वेलित विदीर्णकारी स्थिति के बीच लटकती हुई हिचक मुझे दबोच लेती है। मेरी स्थिति उस रोगी की है जो 'ऑपरेशन' की मेज पर जाने के पहले एक अजीब मोहग्रस्त पशोपेश की हालत में होता है। रोग से छुटकारा 'ऑपरेशन' ही दिला सकता है; किंतु 'ऑपरेशन' हमेशा ही एक कँपा देने वाली आशंका से जुड़ा होता है कि जाने इसमें अस्तित्व ही समाप्त न हो जाय।

किंतु रोगी 'ऑपरेशन' की विभीषिका के डर से 'ऑपरेशन' की मेज़ से क्यों नहीं हट जाता? क्योंकि उसे अपनी आत्मा और मन को तोड़ने वाली, तथा रह-रह कर असह्य पीड़ा और श्वासरोधक छटपटाहट में फूट पड़ने वाली बीमारी का पूरा एहसास होता है। 'ऑपरेशन' की मेज़ से घबराहट सिर्फ़ उन्हीं को होगी, जो सचमुच बीमारी को और उसकी असह्य पीड़ा को ठीक से समझते नहीं।

हर बीमारी आरंभिक दिनों में, शुरू के महीनों में चिंता, क्षोभ और घबराहट का कारण होती है। बीमार को लगता है कि अनजाने कहीं से आ कर एक घिनौनी छाया उसके बदन से चिपक गयी है, वह उस अदृश्य को मुट्ठियों में भर-भर कर, नोच-नोच कर अपने से अलग कर देने के लिए पूरी कोशिश करता है। मानसिक विप्लव की यह स्थिति बीमार को जीने की अभीप्सा और रोग से मुक्ति पाने की इच्छा-शक्ति देती है, किंतु यदि बीमारी दूर न हो और रोग की यह अदृश्य छाया निरंतर गाढ़ी होती जाय तो धीरे-धीरे थका मन इससे समझौता कर लेता है और अपने को कातर शिशु की तरह इस घिनौनी छाया की गोद में सौंप देता है। मैं समूचे विश्व के कल्याण और मानवता के प्रति सदिच्छा की थोथी कल्पनाओं के मोह के वशीभूत हो कर यह कामना कदापि नहीं कर सकता कि अपने बीमार देश को मौत की गोद में सौंप देने के वैष्णवी कर्म का समर्थन करूँ। इसलिए मैं देश पर लादे हुए इस युद्ध के उत्तर में युद्ध का समर्थन करता हूँ क्योंकि मुझे लगता है कि मेरा देश बीमारी के पूर्णतः वशीभूत नहीं हो गया है, कि मुझे लगता है कि उसकी मानसिक प्रक्रिया एकदम कातर या थकी नहीं है, कि वह अब भी अपने अस्तित्व के लिए चिंतित, क्षुब्ध और आंदोलित हो सकता है।

मनुष्य के कर्म का निर्णय, विश्वमत और न्याय---ये चीज़ें हमेशा ही बड़ी सूक्ष्म, आकर्षक, महत्वपूर्ण और आदरणीय प्रतीत होती हैं। इकाई इनसे जुड़ कर, इनका समर्थन पा कर अपने को सार्थक समझती है। किंतु सत्य और असत्य का निर्णय आधुनिक विश्व में निरंतर एक पेचीदा, कष्टसाध्य और अप्रीतिकर प्रक्रिया की चीज़ होता जा रहा है। आधुनिक जीवन का सबसे बड़ा लक्षण शायद यही है कि सत्य को बिना मिलावट के कहीं उपलब्ध कर पाना असंभव है। क्या यह सत्य नहीं है कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है ? क्या यह सत्य नहीं है कि भारत में पाँच करोड़ से ऊपर मुसलमान रहते हैं और उन्हें भारतीय संविधान की ओर से प्रत्येक हक़ प्राप्त है, जो किसी भी दूसरे भारतीय नागरिक को मिले हैं। क्या यह सत्य नहीं है कि इस आदर्श की रक्षा के लिए अनेक बार सांप्रदायिक दंगों में हिंदू और मुसलमान दोनों को प्रियतर वस्तुओं का बलिदान करना पड़ा है, किंतु इस आदर्श की सार्थकता में कभी उनका विश्वास कम नहीं हुआ है। क्या यह सत्य नहीं है कि विश्वमत के प्रति श्रद्धा से प्रेरित हो कर नेहरू ने कश्मीर पर प्रथम पाकिस्तानी आक्रमण के प्रश्न को न्याय पाने की इच्छा से सुरक्षा परिषद में रखा था। क्या यह सत्य नहीं है कि सुरक्षा परिषद ने हमेशा अमरीका और ब्रिटेन जैसे स्वार्थसेवी राजनीतिक गुटबाज़ों के दबाव से कश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान का यानी अन्याय का समर्थन किया है। क्या यह सत्य नहीं है कि साम्यवादी रूस ने हमेशा भारत को मित्रतापूर्ण समर्थन दिया और साम्यवादी चीन पाकिस्तान के साथ साँठ-गाँठ कर के हमारे देश के अभिन्न प्रदेशों को बंदरबाँट के तराज़ू पर चढ़ाना चाहता है। क्या यह सत्य नहीं है कि चीन की इस पहल के कारण रूस का समर्थन पहले से अधिक राजनयिक और पेचीदा होता जा रहा है। क्या यह सत्य नहीं है कि संसार के बहुतेरे मुस्लिम राज्य भारत को हिंदू राष्ट्र मानते हुए पाकिस्तान का समर्थन करते हैं। क्या यह सही नहीं कि हम इतने कमजोर हैं कि ठीक से पेट-भर भोजन पा सकने की भी हमारी स्थिति नहीं है। क्या यह सही नहीं है कि देश में, भ्रष्टाचार, कुनबापरस्ती,

घूसखोरी, कालाबाज़ार, भाषा-संघर्ष, सांप्रदायिकता और जातिवाद पहले से अधिक बढ़ा है। क्या यह सही नहीं है कि इन्हीं स्थितियों के कारण हर मौक़े पर हम विदेशी आक्रमण के समय अपमानपूर्ण शांति को स्वीकार करने के लिए विवश होते रहे हैं, ऐसी अवस्था में इस जर्जर, ग़रीब, बीमार देश के लिए करणीय क्या है? कौन सा रास्ता है, जो हमें शारीरिक बुभुक्षा, मानसिक ग्लानि, अपमान और दीनता तथा राजनीतिक द्विविधा और विश्वमत के अविश्वास और उपेक्षा से बचा सके? सिर्फ़ एक रास्ता है कि हम चुपचाप ढालुवें पर गिरती गाड़ी को देखते रहें, और उसके साथ ही पतन के गर्त में गिर कर चकनाचूर हो जायँ। जो कुछ भी इस देश के साथ घटे, घटने दें और हर स्थिति को, अपनी भवितव्यता मान कर उसी से समझौता कर लें। चीन हमला करे, हम पिट जायँ, पाकिस्तान कच्छ रण पर चढ़ दौड़े, हम मौन रह जायँ--क्योंकि तभी हम विश्व के सामने गांधी के शांतिप्रिय देश के विश्व-कल्याणकामी नागरिक के रूप में व्यंग्यभरी मुस्कराहट और मूर्ख बनाने वाली शब्दावली में मौखिक प्रशंसा पाते रहेंगे। किंतु मुझे प्रसन्नता है कि हमारी जनता में इस प्रकार के 'बड़प्पन!' को स्वीकार करने की असीम कातरता नहीं है। थोथे आदर्श, प्रेम और सत्याभास के जंगल में जो मार्ग खो गया है, उस पर चलते रहने की उसमें धीरता नहीं है, कर्तुमकर्तुम की दमघोंट स्थिति में वह मरना नहीं चाहती। पिछले अट्ठारह वर्षों से भारतीय जीवन की आचार-संहिता लुप्त हो गयी थी, नाना प्रकार के निरर्थक नारों में हमारे जीवन का 'सद्ग्रंथ' खो गया था।

हरित भूमि तृण संकुलित, समुझि परइ नहिं पंथ।
जिमि पाखंड विवाद तें, लुप्त होइँ सद्ग्रंथ॥

आज देश ने कश्मीर प्रश्न को पाखंड विवाद के कीचड़ से निकाल लिया है। आज हमारी जनता अपनी आचार-संहिता, अपने 'सद्ग्रंथ' पर थोपे गये कीचड़ को अपने खून से धो रही है। आज दीनता, जहालत, ग़रीबी, वैमनस्य, बेईमानी और कायरता के बंधन तड़तड़ा कर टूट गये हैं। यह नया विश्वास क्या नहीं कर सकता! इस अदम्य अभीप्सा को मैं तुच्छ कैसे मान लूँ। इस अपूर्व मानव-चेतना को व्यर्थ कहने की शक्ति मेरे साहित्यकार में नहीं है। यह सब कुछ यदि क्षणिक भी है, तो भी यह मनुष्य का सर्वोत्तम काव्य है, मैं इसी कारण इसकी अभ्यर्थना करता हूँ। यह शक्ति जाग्रत हुई है। यह आध्यात्मिक अग्नि है। यह मनुष्य को, समाज को, देश को पूर्णतः बदल देती है। इसी कारण यह सबसे उसके सर्वोत्तम की माँग करती है। यह ढीला-ढाला शिथिल, यथावत स्थिति से मोह करने वाले जीवन की विरोधी है। यह कायरता, निराशा, छल-कपट, अन्याय, कालाबाज़ार, भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता, सबकी विरोधी है, क्योंकि यह चैतन्य का अंश है, यह कभी भी तामसिक धूम के आवरण में ढँकी नहीं जा सकती। यह अग्नि शासन ने नहीं जलायी है। किसी पार्टी या दल का यह अनुष्ठान नहीं है। यह संपूर्ण भारतीय राष्ट्र के सामूहिक मानस-लोक से प्रस्फुटित हुई है। यह कभी धूमिल, कभी मंद, कभी अदृश्य भी हो सकती है, किंतु यह कभी बुझ नहीं सकती और यदि इसे ठीक से पहचाना

न गया और इसे मतलब साध कर पुनः दबाने की कोशिश की गयी तो यह भस्मासुर का रूप भी ले सकती है। यह पूर्ण क्रांति की शुरुआत है। यह युद्ध नहीं, संकल्प है; यज्ञ है; इसमें प्रत्येक अधिकारी को, शासन को, स्वार्थ के ऊपर उठना होगा। हमें समूह मानव के लिए स्वार्थी धारणाओं का बलिदान करना ही होगा।

भारतीय सैनिकों की शौर्य-गाथाओं से आज जन-गण उद्दृप्त है। बढ़िया और श्रेष्ठ युद्ध-सामग्री और हथियारों से लैस शत्रु-सेना छिन्न-भिन्न हो गयी है। कसूर और सियालकोट क्षेत्रों के टैंक-युद्ध द्वितीय महायुद्ध में रोमेल द्वारा संचालित बख्तरबंद सेनाओं के विकट युद्ध की याद दिला रहे हैं। अमरीकी अभेद्य पैटन टैंकों की धज्जियाँ उड़ गयी हैं। यह सब कैसे हुआ? दिल्ली स्थित दूतावासों के सैनिक सलाहकार परेशान हैं। अमरीकी पैंटागन चिंतित हैं। यूरोपीय सैन्य संधि 'नाटो' से संबद्ध युद्ध-विशेषज्ञों की संस्था 'शेफ' आँकड़ों का परीक्षण कर के दाँतों तले उँगली दबा रही है। पश्चिमी जगत की युद्ध-सामग्री-निर्माता वणिक्-संस्थाएँ चकित हैं। उनकी विश्वविख्यात युद्ध-सामग्री और अस्त्र-शस्त्रों का ऐसा घटिया विज्ञापन शायद ही कभी हुआ हो। सभी पूछते हैं कैसे ऐसा हुआ? क्या भारत ने किसी अद्भुत नये अज्ञात ढंग के क्षेप्यास्त्रों का आविष्कार किया है? क्या टैंक-तोड़क वजूका में अणु-शक्ति का अंश निहित है? जितने मुँह, उतनी अफ़वाहें। लेकिन ऐसा कुछ नहीं है। भारत ने कोई अज्ञात शक्तिशाली हथियार नहीं बनाया है। ये टैंक किसी अद्भुत ध्वंसक अस्त्र से नहीं टूटे हैं न किसी करिश्मे से। ये टूटे हैं उसी चैतन्य शक्ति के द्वारा, जो अपमानित, पीड़ित, निराश और कातर जनमानस में अचानक फूट पड़ी है। मैं साहित्यकार हो कर इस चैतन्य शक्ति की उपेक्षा करना, अपने कर्तव्य की अवहेलना मानता हूँ।

भारत के प्रधान मंत्री ने कहा है--**जवान अपना खून दे रहे हैं, किसान अपना पसीना दें।** प्रधान मंत्री के इन शब्दों के प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ। किंतु उन्होंने ज्यादती की है। ज्यादती यह नहीं कि उन्होंने किसानों से पसीना माँगा है। ज्यादती यह कि उन्होंने किसानों से ही खून और पसीना दोनों माँगा है। जवान सैनिक पोशाक में किसान ही तो हैं। अब्दुल हमीद या आशाराम त्यागी या भूपेंद्र सिंह या इनकी तरह के वे सैकड़ों, जिन्होंने सीना अड़ा कर तोपों के गोले झेले, कौन थे? वह, जिसने बाप की आँसूभरी आँखों में झाँक कर कहा था कि बब्बू, देख लो, गोली कहीं पीठ पर नहीं लगी है, कौन था? वह जो वैदौर की पहाड़ी को सर कर के पीर साहिबा की चोटी पर पहुँचने के लिए उतावला था, रणजीत सिंह दयाल, पगला कप्तान, कौन है? ये सभी तो किसान हैं। हम इन्हीं से खून भी माँगते है, इन्हीं से पसीना भी। और यद्यपि आज हिसाब-किताब का समय नहीं है, फिर भी क्या देश की सरकार से पूछा जाय कि पिछले अट्ठारह वर्षों में अपने इन किसानों के लिए क्या किया? क्या यह सही नहीं है कि पिछले अट्ठारह वर्षों में ये निरंतर प्रतीक्षा करते रहे कि उनके भी दिन लौटेंगे। एक न एक दिन शासक ये जानेंगे कि किसान भी भारत का ही एक दीन-हीन जन-समूह है, जिसकी भी कुछ आकांक्षाएँ और कामनाएँ होती हैं। किंतु वे प्यासे चातक की तरह स्वाती घन की आशा लगाये ही रहे, उनकी धरती पर कभी कृपा की बूंदें नहीं गिरीं। अब्दुल हमीद का पूर्वी उत्तर प्रदेश आज भी पशुओं के गोबर से

अन्न के दाने बीन कर खाता है और आप हैं कि अब्दुल हमीद की मृत्यु के बाद गाँव और सड़कों और स्कूलों के नाम बदल कर अपने कर्तव्य को पूरा हुआ मान कर संतुष्ट हो जाते हैं ? यदि वाक़ई हमें किसानों से ख़ून और पसीना दोनों चाहिए, तो हमें इतना ख्याल तो करना ही होगा कि वे इन दोनों को दे सकने की स्थिति में तो रहें।

इस युद्ध के दौरान एक और बात देखने में आयी। दिल्ली की 'संज्ञा' ने एक साहित्यकार-गोष्ठी की, जिसमें इस बात पर विचार किया गया कि युद्ध से साहित्यकार का कोई संबंध होता है या नहीं। गोष्ठी में एक पक्ष यह भी उभरा कि युद्ध साहित्य विरोधी चीज़ है। सच्चा साहित्यकार हमेशा ही इस बात पर ध्यान देता है कि कला और सौंदर्य की रक्षा हो। इधर हिंदी में भड़-भड़िया काव्य बहुत लिखा जा रहा है। चूँकि इस तरह की स्थिति पर लिखा काव्य कभी महान नहीं होता, इसलिए सच्चे और बड़े साहित्यकार इस तरह के कामों में दिलचस्पी नहीं लेते। चीनी हमले के दिनों में चित्रकार डी० सूज़ा से पूछा गया था कि इसकी आप पर क्या प्रतिक्रिया हुई तो उन्होंने कहा कि मैं तो सिर्फ़ एक ही युद्ध में दिलचस्पी लेता हूँ वह है चित्रफलक पर विभिन्न रंगों का युद्ध। बहरहाल डी० सूज़ा को दिलचस्पी का एक युद्ध तो मिला, किंतु हमारे बड़े और सच्चे साहित्यकार तो युद्ध नाम से ही कतरा गये। और 'कला और सौंदर्य' की रक्षा के लिए मचलते रहे। युद्ध शब्द की भी क्या विडंबना है। प्रश्न यह है कि यदि किसी राष्ट्र पर कोई तानाशाही धर्मांध शासन बलात युद्ध लादता है, तो उस देश के साहित्यकार को क्या करना चाहिए ? प्रश्न युद्ध का नहीं, युद्ध के प्रतिरोध का है, यदि फिर भी उत्तर है "कला और सौंदर्य"—तो कहना होगा कि पिछले वर्षों में साहित्य के क्षेत्र में जो चिंतन-मनन की प्रक्रिया चलती रही है, उसकी बुनियाद में ही कहीं कोई गलती है। क्योंकि नवलेखन के क्षेत्र में पिछले दस वर्षों से जो स्थिति उभरी है, उसका तो अर्थ हम यही समझते थे कि अब हमारा साहित्यकार 'कल्पनाजीवी वर्गगत चरित्रों' की कोटि से हट कर जनता के एक सामान्य अंश के रूप में समाज की रोजमर्रा की ज़िंदगी को भोगने वाले एक सचेत साक्षी के रूप में तथा मिथ्या अमूर्त नारों और मिथक के साँचों को छोड़ कर भोगे हुए मूल्य और सत्य के उपलब्धक और अभिव्यक्ति-कला के रूप में स्वीकृत हो चुका है। लेकिन आज भी यदि कोई आधुनिक सचेत साहित्यकार 'कला और सौंदर्य' की रक्षा की बात करता है, जो हमेशा ही व्यक्ति-मूल्य न हो कर 'अमूर्त नारे और ढाँचे मात्र' रहे तो आश्चर्य होता है। लगता है कि हाथीदाँत की मीनारें ढही नहीं थीं, आधुनिकता के कुहरे में छिप भर गयी थीं।

सच तो यह है कि पिछले तीन वर्षों में उपस्थित होने वाले दो-दो युद्धों ने इस बात का काफ़ी प्रमाण दिया है कि तथाकथित श्रेष्ठ आधुनिक साहित्य-धारा संकट के समय भारतीय जनता की मनःस्थिति का सही साक्ष्य देने में असमर्थ सिद्ध हुई है। क्या यह नवलेखन का दोष माना जाय कि वह वास्तविकता के अंकन में अक्षम रहा है। मुझे लगता है कि इस प्रश्न पर गंभीरता से सोचने की आवश्यकता है कि हमारा आज का नवलेखन कहाँ तक आधुनिक भारतीय मानस का सही प्रतिनिधित्व करता है ? या तो हमारे बुद्धिजीवी, अर्थात कवि-साहित्यकार जनता से बिल्कुल कट चुके हैं या जनधारा उन्हें कगार के कूड़े-कचरे की तरह छोड़ कर आगे निकल

गयी है। हम जिस प्रकार की 'नान्यः पंथाः' वाली निराश मनःस्थिति में जीवित हैं, और जिसका चित्रण हम साहित्य में भरपूर करते रहते हैं और जिससे उबरने का हमें कोई मार्ग नहीं सूझता, यदि वह सत्य है तो यह विराट टैंक-युद्ध अवश्य झूठ है। हमारे साहित्य में इधर एक और अद्‌भुत स्थिति उभरी है। निष्पक्ष विवेचन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि नयी कविता, नयी कहानी और उपन्यासों के क्षेत्र में ग्राम्य साहित्य का स्वर दब रहा है। यानी भारतीय किसानों के जीवन के साक्षीभूत साहित्य का नवलेखन में क़रीब-क़रीब लोप सा हो रहा है। हमने आधुनिकता की, फ़ैशनजीवी तंग आधुनिकता की, ऐसी बंदिश मारी है कि सामाजिक यथार्थ से संवलित कृषक-साहित्य हमारे लिए उपेक्षणीय हो चुका है। संकट के समय जिस देश का प्रधान मंत्री किसानों से ख़ून और पसीना दोनों माँगे, उस समूह के जीवन के प्रति आधुनिक साहित्यकार वर्ग उपेक्षा-शील हो, यह भी इस बात का सूचक है कि नवलेखन की पद्धति समाज की वास्तविकता से दूर हट गयी है। यह कितने शर्म की बात है कि कम्युनिस्ट पत्रिका 'जनयुग' नवलेखन के साहित्य-कारों पर आरोप लगाती है कि ये तानाशाही के समर्थक हैं [देखिए---जनयुग, ४ जुलाई ६५] और हम कुल महीने भर के भीतर अपनी बैलौस वाग्विदग्धता के द्वारा उस आरोप को सही होने का प्रमाणपत्र बाँटने लगते हैं। 'जनयुग' के उस अंक में साहित्यकारों के प्रति जिस निकृष्ट और अभद्र भाषा का प्रयोग किया गया था, और जिस प्रकार के अमानवीय तेवर दिखाये गये हैं, वे और भी अधिक निंदनीय और कदर्थ्य हो गये होते यदि हम अपने व्यवहारों से भारतीय जीवन की वास्तविकता को ठीक से समझते हुए इस प्रतिरोध-युद्ध को उसके सही संदर्भ में देखते और तद्‌वत आचरण करते। और कहीं ऐसा है, तव तो और भी आतमघातक है कि चूँकि कम्युनिस्ट लेखक इस युद्ध के पक्ष में बहुत सक्रिय हैं, इसलिए उनसे कंधा से कंधा मिला कर चल नहीं सकते। इस हालत में यह एक स्वयंसिद्ध पराजय होगी कि हम सही ज़मीन पर कम्यनिस्टों को खड़ा देख, उनसे अपने को अलग करने के लिए गलत ज़मीन पर ग़लत क़दम रखने लगें।

जहाँ तक भड़भड़िया साहित्य की निकृष्टता का प्रश्न है इस पर विवाद उठाना जरूरी नहीं लगता। यदि हम साहित्य को शुद्ध अर्थों में बहुत सीमित मान लें तो उन्हें साहित्येतर भी कहा जा सकता है, पर क्या साहित्य को स्वयंसिद्ध सर्वोपरि मूल्य मानने वाले भी अतिवाद के शिकार नहीं होते। प्रेमचंद ने कहा था कि वे साहित्य को शस्त्र मानते हैं। हालांकि उनका अभिप्राय कहीं ज़्यादा सूक्ष्म और महत्वपूर्ण था, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि भड़भड़िया साहित्य भी एक प्रकार का शस्त्र ही है, 'इंडियन मेड'। ऐसी रचनाएँ प्रायः ही उत्तम नहीं होतीं यह भी ठीक है। शाश्वत साहित्य की तुलना में ये क्षणजीवी होती हैं, यह भी ठीक है। किंतु क्या लड़ाई के काम में आने वाले अस्त्र-शस्त्र शाश्वत होते हैं? और चूँकि ये क्षणजीवी होते हैं, इसलिए क्या फ़ैज़ाबाद की जनता से यह कहना उचित होगा कि वह अपनी रोज़ी में कटौती कर के टैंक खरीदने के लिए चंदा उगाहना बंद कर दे क्योंकि उसका खरीदा हुआ टैंक कसूर क्षेत्र में एक ही गोले से चकनाचूर हो जायगा, अथवा इलाहाबाद वालों से कहा जाय कि तुम जो चंदा बटोर कर 'नैट' खरीद रहे हो यह कितनी बेकार बात है क्योंकि किसी भी सेकेंड यह विमानभेदी तोप से ध्वस्त हो जायगा इसलिए साहित्य को उच्च सिद्धांतों की किसी काल-

कोठरी में क़ैद करने की ज़रूरत बिल्कुल नहीं है, जहाँ से वह निकल न पाये और मनुष्यता की सेवा में शुद्ध कलावादी कार्यों की अपेक्षा कुछ कम महत्वपूर्ण काम न कर सके। महत्व भी सापेक्ष शब्द मात्र ही है। शांतिकाल में लिखी जिन रचनाओं को हम बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं, वे सचमुच की श्रेष्ठ और शाश्वत कृतियां हैं? इनके बारे में भी हमें मुग़ालता नहीं होना चाहिए।

नियति का व्यंग्य भी कभी-कभी कितना तीखा होता है। ठीक ऐसे मौक़े पर जब हमारे कलावादी आधुनिक लेखक युद्ध के बारे में शंका के दौर से गुज़र रहे हैं, रूसी लेखक शोलोखोव को नोबेल पुरस्कार देने की घोषणा की गयी है। शोलोखोव का सारा साहित्य नाज़ी आक्रमण और युद्ध के विरोध में लड़ती जनता के धैर्य और साहस का दस्तावेज़ नहीं तो और क्या है!

—कामा कोठी, दुर्गाकुंड,
वाराणसी।

कृष्णनाथ

अवरुद्ध पुनर्जागरण : एक परिसंवाद

सांस्कृतिक संघ, काशी के तत्वावधान में २२ अक्तूबर, १९६५ को सायंकाल ६ बजे से आयोजित एक गोष्ठी में श्री अच्युत पटवर्धन ने 'अवरुद्ध पुनर्जागरण' पर एक वार्ता प्रस्तुत की। गोष्ठी की अध्यक्षता प्राध्यापक राजाराम शास्त्री ने की। इस टिप्पणी के लिए उत्तेजना इस गोष्ठी से मिली, इसलिए पहले आभारपूर्वक इस प्रश्न के पूर्व पक्ष को संक्षेप में दुहरा लूँ तो चलूँ।

अब यह काम आसान नहीं हुआ करता। इसलिए मैं अपने भरसक अच्युत जी के मूल तर्क को, जैसा मैंने समझा, अपने शब्दों में जस-का-तस रखने की कोशिश ही कर सकता हूँ। अगर इसमें कोई भूल-चूक है तो इस पर मूल वक्ता का संशोधन ही अंतिम है, मेरा नहीं। मैं अपनी भूल सुधारने के लिए हमेशा प्रस्तुत हूँ। लेकिन जब तक मुझे अपनी भूल दीखती नहीं, तब तक यह भूल भी मेरी अपनी संतान है और मुझे प्रिय है।

शुरू में ही, सांस्कृतिक संघ के मंत्री श्री कैलाशचंद्र मिश्र ने सूचना दी कि वार्ता का विषय मूल रूप से 'हॉल्टेड रेनासाँ' है। यह अंग्रेज़ी शब्द जान लेना ज़रूरी है। क्योंकि इसका जो अनुवाद बाँटा गया था : 'अपूर्ण नवनिर्माण', वह इस 'हॉल्टेड रेनासाँ' के मूल अर्थ का ठीक सूचक नहीं। इस पर डॉक्टर शंभुनाथ सिंह ने सुझाया : 'अवरुद्ध पुनर्जागरण।' अच्युत जी और गोष्ठी ने क़रीब-क़रीब इसे अपना लिया। हालाँकि उनका खुद शुरू में शब्द था : 'अवरुद्ध पुनरुत्थान'।

यह शब्द-चयन-प्रक्रिया जानने जैसी है, क्योंकि इससे शुरू में ही अवरुद्ध पुनर्जागरण की सूचना मिलती है। मूल अंग्रेज़ी में सोच कर हिंदी में अनुवाद, अन्य बातों के अलावा, अवरोध का कारण या परिणाम है, या शायद लक्षण।

जो हो, 'रेनासाँ' की व्याख्या करते हुए अच्युत जी ने कहा कि इसके फ़्रांसीसी-अंग्रेज़ी मूल की व्युत्पत्ति तो 'नेसेंस' से है और इस माने में इसका शब्दशः अनुवाद 'पुनर्जन्म' हो जाता है। लेकिन इस 'पुनर्जन्म' से 'रेनासाँ' के मूल आशय का बोध नहीं होता।

'रेनासाँ' का जो आशय है, वह कुछ इस प्रकार है : पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्व यूरोपीय इतिहास के मध्य युग में सामंतों का ज़ोर था और इन सामंतों पर हावी था रोम का चर्च। यह चर्च

सामंतों से 'धर्म-युद्ध' लड़वाता था। और इन युद्धों में फँसे सामंतों में से किसी राष्ट्र के उदय का सवाल न था। इसी दौर में इटली में बैठ कर क्लासिकी ग्रीक-लैटिन साहित्य का नये सिरे से अध्ययन शुरू हुआ। यह ग्रीस-रोम की सभ्यता इन आधुनिक यूरोपियनों की पितर है, और इनसे अपनी ख़ुराक और पोषण की शक्ति लेती है। तो इस क्लासिकी भाषा, तत्वज्ञान और दर्शन के अध्ययन से चौदहवीं से सोलहवीं शताब्दी के यूरोप में कला और विद्या का पुनरुत्थान हुआ। एक नया दिमाग़ उभरा। यूरोपीय पुनर्जागरण की एक चित् शक्ति पैदा हुई और इस दिमाग़ ने यूरोपीय सभ्यता के पंखों में इतिहास की एक शक्ति भर दी। इस मन के अभिनवीकरण ने कोलंबस को अमरीका की यात्रा करायी, एरास्मस को बग़ावत का दर्शन सुझाया और वह सब कुछ किया जिसे आधुनिक संदर्भ में 'रेनासाँ' कहते हैं।

इस ऐतिहासिक व्याख्या को भारत से जोड़ते हुए श्री पटवर्धन ने यह कहा कि उस समय जब कि यूरोप में पुनर्जागरण, बुद्धि का अभिनवीकरण हो रहा था, इस देश का दिमाग़ जाति-प्रथा की संकीर्णताओं में और अधिकाधिक जकड़ता जा रहा था। मुसलमान हमलावरों के पहले जो भी इस देश में आये वे पहले तो जीत जाते थे। यह बाढ़ का पहला दौर हुआ करता था। फिर यह पानी भी संस्कृति की गंगा के प्रवाह में घुल-मिल कर एक हो जाता था। वे जो जीते थे वे भी इस प्रवाह में समा जाते थे। मुसलमान पहले थे जिन्होंने ऐसा करने से इनकार किया। और अब तक भारतीय संस्कृति की इतनी अवनति ज़रूर हो चुकी थी कि वह इस हमले को पचा न सकी।

इसका कारण क्या है? इस पर विस्तार में न जाते हुए भी अच्युत जी ने कहा कि इसे 'पंडित के दिमाग़' में देखिए। यह दिमाग़ कितना संकीर्ण हो चुका है। इसका विश्व अपनी जाति का दरबा है। इसके बाहर वाले से, 'म्लेच्छ' से बोलना तक पाप है। खाना-पीना, उठना-बैठना तो दूर की बात है। तो यह संकीर्ण मस्तिष्क ग़ुलाम न होता तो और क्या होता? और इसी ब्राह्मण के हाथ में था सारा नेतृत्व, इसलिए जो इसके पीछे थे, वे तो और नीचे, और नीचे बहते गये।

फिर भी हिंदू-मुसलमान कुछ हद तक मिल-जुल रहे थे। हिंदू राजाओं के यहाँ मुसलमान हिंदू दोनों ही सेना, मुसलमान राजाओं के यहाँ हिंदू-मुसलमान सेना, दरबारी वग़ैरह। तब अंग्रेज़ आये।

इस तरह जब यूरोप में पुनर्जागरण का आंदोलन चल रहा था तो हिंदुस्तान में जाति का बंधन और जकड़ रहा था। इस समय भारतीय मस्तिष्क को अपनी संकीर्ण सीमा के बाहर के विश्व का कोई पता तक न था। यह कंपनी क्या है? इसकी जड़ क्या है? इसका लक्ष्य क्या है? इन सबका न कोई पता था, और न कोई जिज्ञासा। अब ऐसे संकीर्ण दिमाग़ के मुक़ाबले में अंग्रेज़ों के खुले दिमाग़ की जीत अनिवार्य थी।

इसलिए १८५७ के ग़दर को आप चाहे जो कह लें, वह एक पुरानी दुनियाँ की एक नयी दुनियाँ से टक्कर थी। और इसमें सामंतों की पुरानी दुनियाँ की हार अपरिहार्य थी। वही हुआ भी।

अब यह ठोकर लगी। अंग्रेज़ी भाषा, शिक्षा, साहित्य और इतिहास का अध्ययन शुरू हुआ। तो जैसे आँख खुली। बंगाल, मद्रास, महाराष्ट्र, पंजाब जहाँ अंग्रेज़ों से पहला सीधा संबंध क़ायम हुआ वहाँ दिमाग़ का अभिनवीकरण पहले शुरू हुआ। राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, केशवचंद्र सेन, स्वामी विवेकानंद, स्वामी दयानंद सरस्वती, जस्टिस रानाडे इस पुनर्जागरण के सूत्रधार हुए। ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज ने ईसाइयत तो स्वीकार नहीं की। लेकिन अब यह ब्रह्मसमाज की लड़कियाँ, उदाहरण के लिए, रवींद्रनाथ टैगोर के 'गोरा' की लड़कियाँ पुरानी लड़कियाँ नहीं हैं, नयी हैं।

इस तरह रूढ़ियों के ख़िलाफ़ एक बग़ावत शुरू हुई। और दिमाग़ का अभिनवीकरण भी। इसलिए भारत में पुनर्जागरण को १९०५ के बंग-भंग से शुरू कर सकते हैं।

लेकिन फिर १९०५ में और इसके बाद यह माना गया कि राजनीति ही अब प्रधान शक्ति है। फिर तो राजनीतिक आंदोलन प्रधान हो जाते हैं और नये मन बनाने का सांस्कृतिक आंदोलन पीछे छूट जाता है। नया मन एक मुहिम चला कर नहीं बना करता। और इस तरह नया मन, नये मस्तिष्क के बनने का काम छूट जाता है। और आज की दुनियाँ में जब ९० मिनट में आदमी पृथ्वी की परिक्रमा कर लेता है तो ऐसी हालत में पुराने मन, पुराने दिमाग़ से काम नहीं चल सकता। आर्थिक विकास वग़ैरह हो ही नहीं सकता, जब तक मस्तिष्क का अभिनवीकरण नहीं हो जाता। यही श्री अच्युत पटवर्धन की राय में भारत में 'अवरुद्ध पुनर्जागरण' का ऐतिहासिक संदर्भ है। कम से कम ऐसा ही मैंने इसे समझा है।

इस अवरोध की सैद्धांतिक व्याख्या अध्यक्ष प्राध्यापक राजाराम शास्त्री ने प्रस्तुत की। शास्त्री जी के अनुसार अच्युत जी के भाषण की मुख्य बात इस अवरोध की सैद्धांतिक व्याख्या ही रही है। ऐतिहासिक विश्लेषण तो आनुषंगिक रहा है। इस सैद्धांतिक विश्लेषण के तहत शास्त्री जी ने अवरोध के दो पक्षों पर ख़ास तौर पर ज़ोर दिया। एक तो प्रामाण्यवाद पर जिससे मस्तिष्क को अपने परिष्कार की विवेक-बुद्धि या तर्क की गुंजाइश ही नहीं रह जाती। इस तरह बड़े से बड़े प्रगतिशील का दिमाग़ किसी एक ख़ास 'वाद' या रूढ़ि से बँध जाता है और इसके अलावा भी कोई पक्ष है इसे स्वीकार ही नहीं करता। परिवर्तन के लिए प्रस्तुत ही नहीं होता। इसलिए भी अवरोध आ जाता है।

दूसरा अवरोध जीवन की एकांगिता पर ज़ोर से आता है। अगर राजनीतिक पक्ष पर ज़ोर रहता है तो फिर सांस्कृतिक पक्ष से जो कुछ इस एकांगीपन की संशुद्धि के लिए आ सकता है, वह आ ही नहीं सकता।

इस तरह शास्त्री जी के अनुसार यह प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है। और शास्त्री जी के अनुसार यही अच्युत जी के भाषण की मुख्य बात रही है, ऐतिहासिक व्याख्या नहीं। बहुत कर के अच्युत जी ने भी अपने संकेतों से इससे अपनी सहमति ज़ाहिर की।

लेकिन अगर मेरी स्मृति और समझ मुझे धोखा नहीं देती, तो अच्युत जी की वार्ता का प्रधान अंश ऐतिहासिक विश्लेषण का था, गौण या आनुषंगिक सैद्धांतिक व्याख्या का। संभव है, वे इसका विपरीत अनुपात रखना चाहते थे, लेकिन चाहने और होने में तो एक खाईं रह ही जाती

है। इसलिए जो हुआ उस पर ही बहस की जा सकती है जो होना चाहिए था, और हुआ नहीं, उस पर नहीं। वैसे भी सैद्धांतिक विश्लेषण को अपने ऐतिहासिक संदर्भ से तोड़ कर ठीक-ठीक नहीं ही देखा जा सकता।

इतना संदर्भ के बारे में।

अब मेरी असहमति मुख्य रूप से इसके ऐतिहासिक पक्ष के कुछेक महत्वपूर्ण अंशों पर थी। मैंने अत्यन्त नम्रतापूर्वक इस असहमति को काशी की इस गोष्ठी में रखा। और अब 'माध्यम' के पाठकों की गोष्ठी में रखने की इजाज़त चाहूँगा।

पहले तो मुझे ऐसा लगा कि अच्युत जी ने शुरू में इतिहास की जिस पाश्चात्य दृष्टि-दोष की आलोचना की थी वही दृष्टि-दोष इस विश्लेषण का भी है। वैसे शुरू में उन्होंने यह कहा था कि मेरी राय में इस सीधी रेखा वाली पाश्चात्य दृष्टि से भारतीय इतिहास की काल-चक्र वाली दृष्टि ज़्यादा समीचीन है: सृष्टि-स्थिति -लय, सृष्टि-स्थिति-लय . . . का यह काल-चक्र चलता ही रहता है। और यह सिद्धांत इतिहास के अध्ययन की ज़्यादा सटीक प्रणाली है। फिर भी मेरी पहली आपत्ति यह थी कि अपने विश्लेषण में अच्युत जी ने सीधी रेखा वाली पाश्चात्य पद्धति का इस्तेमाल किया, काल-चक्र वाली दृष्टि का नहीं। मैंने इस चक्रीय सिद्धांत की व्याख्या की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए कहा कि इस दृष्टि से भारतीय इतिहास में 'पुनर्जागरण' को १९०५ के आसपास से ही शुरू करना ठीक नहीं। क्योंकि कम से कम पाँच बार इतिहास के दौर में इस सभ्यता ने अपना अभिनवीकरण किया है: १—वैदिक युग, २—बौद्ध युग, ३—गुप्त युग, ४—शंकराचार्य युग, ५—अकबर युग। अभी छठाँ युग, गाँधी युग (१९२१-४६) इतने हाल का है और यह पुनर्जागरण इसके तुरत बाद के नेहरू युग (१९४६-६४) में यह कुछ इस क़दर अवरुद्ध रहा है कि इसके बारे में अभी कुछ कहना कठिन है। तो उत्थान-पतन-पुनरुत्थान . . . के कम से कम पाँच चक्र गुज़र जाने के बाद यह सबसे हाल-हाल का नया दौर है। इसलिए यूरोप के पुनर्जागरण के वज़न पर इसे भारत का भी पहला पुनर्जागरण मानना ठीक नहीं। लेकिन मैंने खुद ही सुझाया कि संभव है इतने लंबे इतिहास को एक वार्ता में बाँधने की कठिनाई के कारण अभी-अभी, हाल-हाल के युग पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। और इसे १९०५ के आस-पास शुरू माना है। अच्युत जी ने इसे स्वीकार किया कि इन कई चक्रों में से इस हाल के चक्र की ही विस्तार से व्याख्या की जा सकी है।

दूसरी बात १८५७ के प्रथम स्वातंत्र्य-संग्राम के बारे में थी। मैंने कहा कि यह ठीक है कि इस संग्राम का नेतृत्व सामंतों के ही हाथ में था, क्योंकि तब परंपरागत रूप से राजनीतिक शक्ति और नेतृत्व इनके ही हाथ में था। लेकिन क्या इसीलिए इनका हारना अपरिहार्य था ? और जैसा आजकल सेन और मजूमदार जैसों की ओर से कहा जा रहा है: श्रेयस्कर भी। क्योंकि कहा यह जाता है कि अगर यह 'ग़दर' सफल हो गया होता तो भारत की प्रगति की सुई १०० साल पीछे चली गयी होती !

इस सिलसिले में जापान का उदाहरण मैंने रखा। १८५३ ई० में जब अमरीका के कामो-डोर पेरी ने जापान के समुद्र-तट को खटखटाया, व्यापार की इजाज़त माँगी और इनकार करने

पर भी अपनी बंदूक़ और शब्द-कोश के साथ उतरा तो जापान अपने तीन सौ वरसों के अलग-थलग जीवन की तंद्रा से जागा। पिछले तीन सौ वर्षों में तोकोगावा शासन-काल में जापान एक रेशम के कीड़े की तरह अपने ही कोये में अपनी ज़िंदगी का ताना-बाना वुनता रहा था। लेकिन जब कामोडोर पेटी ने इसके समुद्री दरवाज़े खटखटाये तो यह खोल फट गयी। इसे अपने अभिनवीकरण और उपनिवेशीकरण के बीच चुनाव करना पड़ा। जापान ने बुद्धिमानी के साथ अपने नवीनीकरण का रास्ता अपनाया। लेकिन यह आधुनिकीकरण बादशाहत के पुनर्स्थापन से, 'मेजी रेस्टोरेशन' से १८६० के लगभग शुरू हुआ। फिर इस बादशाहत के ही तहत ५० वर्षों में ही जापान ने रूस जैसी यूरोपीय गोरी शक्ति को १९०५ में हरा कर संधि करने के लिए मजबूर कर दिया। एशियाई जापान की यूरोपीय रूस पर इस विजय ने एशियाई जातियों और देशों में खोया हुआ आत्म-विश्वास लौटाया, और इस घटना ने एशिया में पुनर्जागरण के पंखों में वेग भरा। तो क्या कुछ ऐसा ही हिंदुस्तान में १८५७ में संभव न था? क्या इस स्वातंत्र्य-संग्राम को जीत कर, और इससे सबक़ ले कर भारत का अपने ढंग से एक ज़्यादा अच्छा और स्वस्थ और नया मस्तिष्क और राष्ट्र नहीं बन सकता था। क्या इस देश को अपने पुनर्जागरण के लिए गुलामी के इस दौर से गुज़रना ऐतिहासिक दृष्टि से अनिवार्य था? या यह एक ऐतिहासिक दुर्घटना मात्र था?

फिर, तीसरी बात भारत में अंग्रेज़ी राज के मूल्यांकन के बारे में: इधर इतिहास के अध्येताओं की प्रवृत्ति इस राज के 'योगदान' को बढ़ा-चढ़ा कर देखने की है। वैसे यह समझ में आने वाली बात है। भारतीय विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम पहले आक्सफ़ोर्ड, कैंब्रिज के आधार पर गढ़े गये थे और अब इन पर हार्वर्ड, एम० आई० टी०, शिकागो जैसे अमरीकी विश्वविद्यालयों का प्रभाव पड़ रहा है। फिर भी ब्रिटिश प्रभाव तो शिक्षा-प्रणाली और नौकरशाही पर बना ही हुआ है। बल्कि पुराना प्रेम अँगड़ाई ले रहा है। और इस 'प्रीति-पुरातन' को लख भी कौन सकता है!

यहाँ तक कहा जा रहा है कि इस देश में राष्ट्रीयता और जनतंत्र और प्रगति की सारी कल्पनाएँ इस ब्रिटिश राज और इसकी शिक्षा, भाषा, न्याय-व्यवस्था और प्रशासन की उदारता की देन है। कुछ ऐसा आभास मुझे स्वतंत्रता और समाजवाद की लड़ाई के इन सेनानी श्री अच्युत पटवर्धन के वक्तव्य में लगा। यह मुझे विशेष रूप से खटका। क्योंकि मेरा निश्चित मत है कि राष्ट्रीयता और पुनर्जागरण वग़ैरह इस अंग्रेज़ी राज और सभ्यता की चुनौती का जवाब है। इस राज के ख़िलाफ़ बग़ावत की देन है, न कि इस अंग्रेज़ी राज, भाषा, शिक्षा, न्याय, प्रशासन, उदारवाद, विवेकवाद वग़ैरह की।

इस सिलसिले में आम तौर पर जिन दो धाराओं को एक साथ गड्ड-मड्ड कर दिया जाता है उन्हें अलग-अलग कर के देखना ज़रूरी है: एक धारा तो पश्चिम-अभिमुख राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन, जस्टिस रानाडे, रवींद्रनाथ टैगोर और श्री जवाहरलाल नेहरू की है। दूसरी बाग़ी है: ईश्वरचंद्र विद्यासागर, बंकिम चटर्जी, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, दयानंद सरस्वती, बाल गंगाधर तिलक और इसके नायाब प्रतीक हैं महात्मा गांधी। हमारी राय में इन

दो धाराओं की प्रवृत्तियाँ, कार्य की शैलियाँ इतनी भिन्न हैं कि इनमें भेद करना ज़रूरी है। मुझे ऐसा लगा कि इन दो प्रवृत्तियों में भेद नहीं किया गया। और भारत के पुनर्जागरण में ब्रिटिश तराज की 'भूमिका' को जैसे अचेतन रूप से स्वीकार किया गया। जब कि हमारी राय में इस राज की अपनी भूमिका कुल ले-दे कर पुनर्जागरण नहीं, अवरोध का कारण रही है। और अंग्रेज़ों की गुलामी में मज़ा लेने वाले इतिहासकार जो भी कहें, भारत में ब्रिटिश राज के धन मुद्दों के मुक़ाबले ऋण वाले मुद्दे बहुत ही ज़बर्दस्त हैं, इसलिए यह योगदान अगर कुछ है तो ऋणात्मक या निषेधात्मक है।

आश्चर्य है कि आज़ादी के मिले अठारह साल बाद भी हम ऐसे ही लिखते-बोलते हैं, जैसे हम आज भी गुलाम हैं। और उस ग़ुलामी का शुक्रिया अदा करते हैं। क्योंकि हम यह मानते हैं कि भारत में ब्रिटिश राज की भूमिका प्रधान रूप से प्रगतिशील रही है। फिर तो सारा स्वातंत्र्य-संग्राम व्यर्थ है और भारत ने एशिया, अफ़्रीका के महाद्वीपों और देशों में आज़ादी की अगुआई कर के एक प्रतिगामी भूमिका अदा की है। ऐसा लगता है कि यह देश ग़ुलामी के दिनों में भी बौद्धिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इतना ग़ुलाम न था जितना कि अब है। यह शायद उसी अवरोध के चलते है जो गांधी युग के बाद नेहरू युग में आया। इस दृष्टि से अगर अंग्रेज़ी के शब्दों का प्रयोग ज़रूरी है तो मैं इसे निजी तौर पर 'हॉल्टेड रिनासाँ' के बजाय 'अरेस्टेड रेनासाँ' कहना पसंद करूँगा। जैसे दिमाग़ की बाढ़ एक जगह क़ैद हो गयी है। जो हो, प्रश्न यह है कि क्या आप भारत में अंग्रेज़ी राज और शिक्षा, भाषा वग़ैरह को पुनर्जागरण का कारण मानते हैं? या अवरोध का?

इस पर अप्रत्याशित प्रतिक्रिया हुई। आक्रोश में आ कर अच्युत जी ने कहा कि इस भारतीयता की दृष्टि से इतिहास को नहीं देखा जा सकता। यह संकीर्ण और संकुचित दृष्टि है। हिंदी-अंग्रेज़ी सब जला देने-जैसी है। आज की स्थिति यह है कि एक नया मानव जन्म ले रहा है। यह ९० मिनट में पृथ्वी का एक चक्कर लगा रहा है।

इस पर मैंने टोका: "यह नया मानव रहेगा कहाँ, अच्युत जी?"

यह तो आखिरी तिनका था। अच्युत जी ने क़रीब-क़रीब चीखते हुए कहा: "नया मानव जन्म ले रहा है। यह भारतीयता वग़ैरह सब संकीर्णता है। . . ."

अच्युत जी की आधी उम्र के कारण, मैं इनसे दुगुना आक्रोश तो दिखा ही सकता था। लेकिन पहले तो आक्रोश वहाँ आता है जहाँ तर्क चुक गया होता है। फिर, गोष्ठी का शिष्टाचार निभाने और वय का आदर करते हुए मैंने नम्रता किंतु दृढ़ता के साथ इतना ही कहा: "मुझे यह कहने की इजाज़त दें कि मुझे अपने प्रश्न का उत्तर नहीं मिला।"

इस पर अच्युत जी ने हाथ जोड़ कर अपनी अनिच्छा ज़ाहिर की। इसलिए मेरे लेखे तो बात वहीं खत्म हो गयी। श्री जगन्नाथ उपाध्याय ने जब यह जानना चाहा कि उत्तर क्यों नहीं मिला? तो मैंने अनिच्छा से इतना ही कहा कि मेरी शंका तो भारत राज में ब्रिटिश राज की अपरिहार्यता और वांछनीयता के बारे में है। इस पर अच्युत जी ने संयत भाव से कहा: "मैं भारत में ब्रिटिश राज को पुनर्जागरण का कारण नहीं मानता।" और यह बात यहीं खत्म हो गयी।

प्राध्यापक राजाराम शास्त्री ने अपने अध्यक्षीय भाषण में समापन करते हुए इसे फिर उठाया। हालाँकि शास्त्री जी ने, जैसा पहले सूचित किया गया है, इतिहास और सिद्धांत का अनुपात ही पलट दिया। फिर भी, सिद्धांत पक्ष के तहत ही आपने कहा कि भारत में अंग्रेज़ी राज एक चुनौती है। अब इस चुनौती के जवाब में भारतीय संस्कृति की व्याख्या, पुनर्व्याख्या भी की गयी। इसे तो बिलकुल छोड़ा नहीं, और जिसे नवजागरण कहते हैं वह भी आया। इसलिए पुनरुत्थानवादी और नवजागरणवादी में बहुत दूर तक भेद नहीं किया जा सकता। खास तौर पर गांधी जी में तो दोनों का समन्वय है ही। इसलिए शास्त्री जी के अनुसार, समस्या अवरोध के विश्लेषण की है। अवरोध के कारणों का विश्लेषण करते हुए आपने प्रामाण्यवाद वग़ैरह का ज़िक्र किया।

इस प्रामाण्यवाद पर कुछ और जोड़ने की इजाज़त दें। यह प्रामाण्य-विचार जैसे भारतीय मस्तिष्क में घुसा हुआ है। कभी वेद-वाक्य का प्रामाण्य था, फिर बुद्ध-वचनों का, फिर शायद पुराणों का और फिर तांत्रिकों और संतों और भक्तों और सूफ़ियों, पंडितों, मौलवियों का। अब इनका प्रामाण्य तो रहा नहीं। वेद-पुराण वग़ैरह पढ़ता ही कौन है? लेकिन यह प्रमाण मानने की आदत दिमाग़ की बन गयी है। और दिमाग़ की आदत मुश्किल से छूटती है। इसलिए अंग्रेज़ी राज और ख़ास तौर पर इस राज के जाने के बाद अंग्रेज़ी भाषा से आये शास्त्र-शिल्प, विज्ञान और औद्योगिकी का प्रामाण्य भारतीय दिमाग़ जैसे आदतन मान लेता है। हालाँकि इसके साथ-साथ यह भी दुहराया जाता है कि एक नये दिमाग़ की पहली शर्त है विवेक की धार को प्रखर करते जाना। लेकिन इस दिमाग़ को खराद पर चढ़ाने में जिस नित्य स्फूर्ति, चैतन्य की ज़रूरत है, वह कहाँ है? इसलिए अब पुराने संस्कृत शास्त्र-वचनों की जगह नये अंग्रेज़ी में उद्धृत शास्त्र-वचनों ने ले ली है। और अब अगर प्रामाण्यवाद का कोई ख़तरा है तो इन बिना परखे हुए अंग्रेज़ी आप्त-वाक्यों से है। और उस मानसिक आलस्य और आदत से है जो परंपरागत रूप से प्रामाण्यवादी रही है और आज भी है। अंतर सिर्फ़ इतना है कि पहले जिन बातों का प्रामाण्य था वह बहुत कर के भारतीय जीवन और चिंतन का फल थीं, इसलिए इस जीवन और चिंतन से बहुत बेमेल न थीं। लेकिन फिर जब दिमाग़ इनसे बँध गया और इसका अभिनवीकरण बंद हो गया तो दर्शन-अनुचिंतन बहुत कर के अपनी उसी जगह पर रहा जहाँ आज से कोई १,२०० बरस पहले था। हमारा चिंतन रुक गया लेकिन जगत का प्रवाह तो रुका नहीं। इसलिए एक अवरोध, एक शून्य आ गया। अब इस शून्य को एक हद तक सूफ़ी मत ने, इस्लाम के एकेश्वरवाद ने भरा और अंग्रेज़ी राज और उसके इस राज की संध्या वाले नेहरू युग में अंग्रेज़ी भाषा और शिक्षा ने भरा। अब यह भाषा और शास्त्र-शिल्प चूँकि एक भिन्न देश-काल-परिस्थिति की उपज हैं इसलिए भारतीय प्रकृति और परिस्थिति से बहुत कर के इनका ताल-मेल नहीं बठता। फिर भी मानसिक आलस्य और प्रामाण्यवाद के चलते भारतीय बुद्धिजीवी इन्हें बिना परखे भजता है। यह तो मूढ़ता है। यह विद्या नहीं है क्योंकि विद्या तो वह है जो मुक्त करती है, यह अविद्या है जो दिमाग़ को बाँधती है। निश्चय ही, इस रूप में यह प्रामाण्यवाद भारतीय पुनर्जागरण के अवरोध का एक बड़ा कारण है।

अवरोध का दूसरा कारण भी जैसे उस भारतीय मस्तिष्क में ही है जो शंकराचार्य के बाद इसे मिला है। यह एक सोचने की बात ज़रूर है कि शंकराचार्य ने जो भारतीय मनुष्य और मस्तिष्क बनाया वह फिर इतना संकीर्ण क्यों हुआ कि वह इस्लाम को न पचा सका। जैसे कि इसके पहले सहज ही कर सकता था। फिर तो यह ग्रहण-शक्ति कम, कमतर ही होती गयी और अब तो औसत भारतीय दिमाग़ नक़लची दिमाग़ भर गया है। जो अनुकरण करता है, ग्रहण नहीं और कुछ सर्जन तो जैसे करता ही नहीं। मैं अक्सर सोचता हूँ कि शंकराचार्य ने यह कैसा आदमी और कैसा दिमाग़ बना दिया ?

लेकिन इस संकीर्णता की जैसे क्षति-पूर्ति भारतीय दिमाग़ अति-व्याप्ति की दूसरी अति से करता है। जहाँ व्यावहारिक जीवन में वह अपनी जाति और योनि के कटघरों में क़ैद है, वहीं पारमार्थिक सत्य के अन्वेषण में वह ब्राह्मण, चांडाल, गाय, सूअर, मिट्टी, सोना सबमें समत्वम् का दर्शन करता है। इस दृष्टि में फिर देश-काल पात्र का भेद तो सब मिथ्या है। माया है। अविद्या है। इस अद्वैत दृष्टि में इतनी जो विराट और बेमिसाल भिन्नता है, वह सब जैसे है ही नहीं। यह नया मानव एक ही साथ अपने क़स्बे का भी है और फिर विश्व नागरिक या शायद ब्रह्मांड नागरिक है। इस क़स्बे से ब्रह्मांड के बीच की लंबी छलाँग वह ऐसे लगाता है कि देखते ही बनता है : **'नया मानव ९० मिनट में पृथ्वी की एक परिक्रमा कर लेता है।'** अब वह भारतीय है या अंग्रेज़, अमरीकी या रूसी ? यह मानव कौन है ? किस देश का है ? यह अमरीकी और रूसी है, भारतीय नहीं। मुझे अच्छी तरह याद है कि जब सोवियत रूस ने अंतरिक्ष में लायका कुतिया भेजी थी, जब यह रूसी कुतिया अंतरिक्ष की यात्रा कर रही थी तो हम कुछेक हज़ार सत्याग्रही अपनी खोयी हुई ज़बान पाने और दाम बाँधने के लिए जेल के सीखचों के पीछे थे। वैसे भी भारत सहित एशिया-अफ़्रीका लैटिन अमरीका की दो-तिहाई दुनियाँ भूख, रोग और शोक की एक बड़ी जेल ही है।

इसलिए ऐसा लगता है कि हम दिमाग़ी तौर पर जैसे अभाव की पूर्ति करते हैं। क्योंकि हमारी ज़िंदगी में कुछ रस, रहस्य, रोमांस रहा नहीं, तो जब एक रूसी और अमरीकी को अंतरिक्ष में उड़ान भरते देखते हैं तो यह कह कर मजा ले लेते हैं कि देखिए, विज्ञान ने क्या तरक़्क़ी की है ? नया मानव ९० मिनट में पृथ्वी का एक चक्कर लगा रहा है। अब यह मनुष्य रूसी या अमरीकी है, भारतीय नहीं है, यह भेद याद करने से रस-भंग हो जाता है। इसलिए नया मानव तो किसी एक जाति-देश-काल का नहीं, वह तो ब्रह्मांड नागरिक है। जब कि असलियत यह है कि नये-से-नये मनुष्य की देह की एक मर्यादा है। अपनी ढाई हाथ की देह से वह बँधा हुआ है और देश-काल के एक बिंदु पर स्थित है। जन्म से मृत्यु तक वह अपनी जाति-देश-काल-समय से अविच्छिन्न है। और ऐसे क्षण विरल ही हैं जब वह अपनी देह से या इस जाति-देश-काल के चौखटे से बाहर छलाँग लगा पाता है। यह शाप नहीं, उसकी नियति है।

अब जाति-देश-काल-समय से अविच्छिन्न-विच्छिन्न यम-नियम को जो एक साथ अलग-अलग और साथ-साथ नहीं देखता, वह नहीं देखता। और आज जो भारतीय मस्तिष्क नहीं देखना चाहता तो एक प्रयोजन से नहीं देखना चाहता। यह उसकी एक 'प्रतिरक्षा-प्रणाली'

है। निष्ठुर सत्य से पलायन है। और सत्य की सींगों को सामने से पकड़े बिना बराबर उससे भागते रहने से यह मन और कर्म-कौशल अवरुद्ध होता ही है।

अंत में, यह अवरोध देश की सदियों की ग़ुलामी का कारण या परिणाम या लक्षण है। अब जब यह प्रत्यक्ष राजनीतिक आधिपत्य नहीं है तो आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक ग़ुलामी का बने रहना बहुत परेशान नहीं करता। जब कि इन क्षेत्रों में स्वतंत्रता के आये बिना राजनीतिक स्वतंत्रता भी अधूरी है और ख़तरे में है। लेकिन जब एक विदेशी शासक सीने पर सवार है तब विद्रोह के लिए प्रेरणा प्रत्यक्ष है। अब वह विद्रोह नहीं, बल्कि साफ़ तौर पर अंग्रेज़ों के जाने के बाद अंग्रेज़ियत की नक़ल बढ़ी है। यह नक़ल अधिक भयावह है। इसके चलते ही यहाँ तक कहा जा रहा है कि भारत में अंग्रेज़ी राज का क़ायम होना न सिर्फ़ अनिवार्य था बल्कि श्रेयस्कर भी: **"१८५७ के 'ग़दर' में अगर देशी राजे जीत गये होते तो देश की प्रगति की सुई १०० बरस पीछे चली गयी होती।"** यह एक ग़ुलाम ज़हनियत है। और इसे ख़ुराक मिलती है अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से हुए शोध-कार्यों से, इनके प्रामाण्य से, शंकराचार्य की अभेद दृष्टि से और बिना पाये की क़ब्ल-वक़्त की अंतर्राष्ट्रीयता या ब्रह्मांडीय नागरिकता से। और इससे मुक्ति मिल सकती है: इन सबमें स्वतंत्रता का——राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक स्वतंत्रता का प्राण फूंकने से। जब तक यह नहीं होता तब तक यह 'अवरुद्ध' पुनर्जागरण अनिरुद्ध नहीं होता, इसमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं।

आपको है क्या ?

—काशी विद्यापीठ, वाराणसी–२।

शिवकुटीलाल वर्मा

दो कविताएँ

१

मैंने एक नक़्शे पर बम गिराया!

बहुत बड़ी तादाद में आदमी—
और आदमी तो आदमी—
घोड़े और गधे तक मर गये!
इमारतें मुँह के बल उलट गयीं!
घास-फूस-तिनकों की अकाल मौत देख
पेड़ों के बदन में आग लग गयी!
तरक़्क़ीयाफ़्ता योजनाओं ने तो
उधर से गुज़रना ही छोड़ दिया!
बची-खुची आबादी
लगातार चीख़ों से
धुएँ के बादलों को नम करती रही!

पर अब तक मैं यह नहीं समझ पाया,
कि आखिर यह सब हुआ कैसे?
बम तो मैंने एक नक़्शे पर गिराया था!

२

हमने अपनी मेज़ और कुर्सी रस्सी से बाँध कर
उनके पायों को ज़मीन में गाड़ दिया है!
(समस्याओं से हम अब नहीं डरते!
हमारे चेहरों ने उस्तरे की धार को भी नकार दिया है!)

हमारी बीवियाँ हर समय
अपनी काल्पनिक सौतों से कलह किया करती हैं
या घर की सफ़ाई!

हमने जितनी बार निश्चय किया
कि उन्हें काल्पनिक जगत से उबार लें,
या उन्हें वास्तविक जगत से उधार ले
किसी उजड़े हुए लोक को सँवार दें,
हमारे हर निश्चय को
जैसे किसी ने
बार-बार हिजड़ा क़रार दिया है!
(फिर भी हम समस्याओं से नहीं डरते!
हमारे चेहरों ने उस्तरों के वार को भी नकार दिया है!)
हम जो ग़लतफ़हमियों की
रत्ती भर भी परवाह नहीं करते,
या मेज़ों पर मुक्के मार-मार
अपनी चालाक़ियों की थाह लेते नहीं थकते!
हमारे ही बेटों ने
अदालतों में जा कर अपने अधिकारों के लिए
हमें ललकार दिया है!
(फिर भी हम समस्याओं से नहीं डरते।
हमने शुरू से ही संघर्षों भरे जीवन को स्वीकार लिया है!)

●

१, चाहचंद,
इलाहाबाद–३।

श्रीराम शुक्ल

जाड़े की धूप

स्वर्णकेशी!
कुंतलों की गुनगुनी सी छाँव में
यदि गर्म साँसें
वक्ष से टकरायें, तो सौभाग्य मेरा,

किंतु जब तुम
लाँघ छज्जे
पार आती हो,
मुझे दफ़्तर बुलाता है।
लौटने पर,
बाँध जूड़ा
लौट कर जाती हुई तुम दीखती हो।

●

कंचना, अमीनाबाद, लखनऊ।

केशु

दो कविताएँ

अर्थ-बोध के तट पर

तुम एक अगाध परिपूर्ण आलोड़न
एक मंथर वीचि-विलास
और मैं तटवर्ती पात्र की निश्शब्द रिक्तता...
तुम्हारे प्लावन के अटूट संगीत में खोती हुई
तुम्हारे आभासों पर
दो निर्निमेष नयन होती हुई
जैसे कि इंद्रधनुष के आगे
पेड़ों की पातहीनता
विभोर हो जाय
जैसे माँगना ही भूल जाय
आकाश की अनंत संपन्नता देख कर धरती
जब मैं इसे तट कातर—
शुष्क कंठ, हाँफती हुई आयी थी
अनुनयभरी झुक गयी थी
तुम्हारी साँवली जल-छलकनों पर
और पीने लगी
थकी, उत्तप्ता दुपहर की तरह
गद्-गद् तुम्हारे अशेष उर्मि-आग्रह

तब मेरे कपोलों पर मछलियाँ रख कर
तुमने कूलगाछ की पंखभरी शीतल हवा से सहलाया
और एक नाव देते हुए कहा
जब भी तृषित हो, तब फिर आना
तब मैं तुम्हारी नाव का,
मछली का,
और हवा का कोई अर्थ नहीं समझ पायी
तुम्हारे अत्यधिक अनुग्रह के सिवा
अब आज
जब तुम्हें देखती हुई
सुनती हुई
रोम-रोम लवलीन
तुम्हारी स्तुति हो गयी हूँ
और मेरी रगों और अनुभूतियों का समस्त माधुर्य
निस्सीम...निर्मल...प्रभामय हो कर
मुझमें छलक रहा है,
बह रहा है,
गहरा रहा है
और तुम
ऊँचाई से झरे अपूर्व स्वप्नोच्छ्वास की तरह
मेरे चरणों को उमड़-उमड़ कर छू रहे हो
और मेरे और तुम्हारे बीच की
आभार और कृपा की दूरी
सभी प्रश्नों का उत्तर बनी
एकात्म की निर्झर-तल्लीनता में विलय है
तब मुझे तुम्हारी नाव का,
मछली का,
और हवा का
अर्थ समझ आ रहा है
ऊँचाइयों की थकी परछाइयाँ दुलराते
दिशाओं के व्याकुल रंगों को
संपृक्ति देते
ओर-छोर छाये नीलाकाश के
झिलमिलाते स्वप्न को

अपनी निमग्ना गहराइयों में गाते हुए
सीमाओं में बँधे हुए भी निर्बंध
तुम कितने महान हो
जो अपनी ही तरह
अपने सभी सान्निध्यों को
गहन...अगाध...परिपूर्ण बना देना चाहते हो!
एक तटवर्ती पात्र की रिक्तता—मैं
जो आवेशों की अधीर संकुल बाहों से
मुक्ति ले कर आयी हूँ
इससे बढ़ कर मेरी गति क्या हो सकती है
कि तुम्हारी स्तुति बनी
तुम्हारी नावों का अर्थ समझती रहूँ
और तुम मेरे पास उमड़-उमड़ कर
मेरे चरणों को भिगोते रहो!

●

समारोह पर

कपड़ों की नवीनता
और शब्दों की गर्मी महसूसते हुए
वे चले जा रहे हैं!

मुट्ठियों में पसीजी हुई क़समें
पैरों में आदतन होड़
हवा में या धूप में
आसपास बिखरा
एक उछाली हुई प्रसन्नता का भाव
जैसे एक-दो चिड़ियों के चहकने पर
सभी चिड़ियाँ जागें और चहक पड़ें!

वे सब समारोह में जा रहे हैं

क्या कहना है उस रंग का
जो रेखाओं, अक्षरों; प्रश्न-चिन्हों तक को डुबो दे

निगाहों का अपना हो जाय
'सायरन' के स्वर की तरह तन्मय करे
अमरबेलि-सा छाता चला जाय!!
मुझमें कहाँ शेष रहा है यह अहसास
आसपास सर्द ख़ुश्की
और बाहर-भीतर हर क्षण एक खिंचाव
दिन का आना—बीत जाना
सिर्फ़ कंधे और भार के बीच
चुपचाप इरादों का टूटना
बालों का सफ़ेद होते जाना!!

जीवन और देश भावना में
नहीं जिये जा सकते

अब, इस समय
जब कि आइने के सामने
चेहरे से अधिक चेहरे की विकृतियाँ हैं
और आदमी अपनी निर्मितियों में हताश है!
वे सब समारोह में जा रहे हैं
गुब्बारे और झंडियों में
अपने आपको उड़ता हुआ महसूस करने
झुंड के झुंड....
और मैं अपने कमरे में
सुबह से उदास, प्रश्न-व्यथित

मुझमें यह साहस कहाँ
कि पेड़ की जड़ें कटती रहें—घुनती रहें
और मैं डाली पर निश्चिंत बैठा हुआ
मौसमों को गुनगुनाता रहूँ
मुझमें यह साहस कहाँ!

●

द्वारा केदार शुक्ल,
सिख मुहल्ला,
बरखेड़ी, भोपाल।

अमीक़ हनफ़ी

उर्दू की नयी कविता—२

प्रचलित और रूढ़िग्रस्त विषय-वस्तु और पारंपरिक रूप, रंग, छंद, शैली को तोड़ने या मोड़ने वाले अन्य प्रमुख तथा उल्लेखनीय शायरों में आरिफ़ अब्दुल मतीन, क़य्यूम नज़र, शाद आरिफ़ी, इब्ने इंशा आदि का शुमार होता है। आरिफ़ अब्दुल मतीन ने नव-रूमानियत, मार्क्सवाद और फिर व्यक्तिगत चिंतन के सहारे अपनी काव्य-साधना को जारी रखा। उनकी अनुभूति में तीव्रता भी है, द्रुत गतिमयता भी। महात्मा गांधी की हत्या से प्रेरित उनकी एक नज़्म इस विषय पर कही गयी गिनी-चुनी नज़्मों में से एक अच्छी नज़्म है। आरिफ़ प्रायः सभी प्रचलित और नयी विधाओं में सफलतापूर्वक प्रयोग कर चुके हैं—

मैं ख़स हूँ, शरर ढूँढ़ रहा हूँ कब से
कश्ती हूँ, भँवर ढूँढ़ रहा हूँ कब से
ऐ जज़्ब-ए-तक़मील, दुहाई तेरी
मैं शब हूँ, सहर ढूँढ़ रहा हूँ कब से

(रुबाई)

देख कुहसार से उट्ठा है वो सीमीं बादल
उफ़, नहीं ये तो है इक लाश कफ़न में मलबूस
तुम इसे वहम कहो, ख़ौफ़ कहो, कुछ भी कहो
लेकिन इस दिल ने इसे यूँ ही किया है महसूस

(बिस्तरे मर्ग पर)

मुझे ख़ुदकुशी से मुहब्बत नहीं है
मुझे मौत से सख्त नफ़रत रही है
मुझे ज़िंदा रहना है, मैं जा रहा हूँ

(मेट्रो)

क़य्यम नज़र ने बड़ी-बड़ी समस्याओं और दार्शनिक उलझनों के बजाय व्यक्तिगत अनु-

भव और अनुभूति को अपनी कविताओं की आधारभूमि बना कर चित्रमय, गीतात्मक भाषा तथा हिंदी ऐसी गति और यति रखने वाले छंदों के बड़े सुंदर और सहज प्रयोग किये।

कौन इस झोंके को समझाये
सहने चमन से जो उट्ठा है
सूखे पेड़ को छेड़ रहा है

(वापसी)

क़य्यूम नज़र अपनी साफ़-सुथरी अनुभूति और आसपास फैली हुई धरती और प्रकृति के बीच कई समानांतर रेखाएँ देखते हैं और चित्रमय भाषा में इस समानांतरता की अभिव्यक्ति कर देते हैं।

उदास शाम ये क्या ले के आयी मेरे लिए
नहीफ़ तारे—ये पलकों पे रेंगते आँसू
तवील रातों में चुपचाप जलने वाले

(तू)

फिर वही शोर, वही तुंद हवा
अनगिनत मौजें, तलातुम, बारिश
पैच-पै चीखती-चिल्लाती फ़ज़ा
टहनियाँ, पत्ते, परिंदे, पत्थर
हर तरफ़ ग़लबा परीशानी का
मेरी आँखों में मगर अश्क हैं जलने के लिए

(याद)

दमकता जिस्म, मचलती उमंग, कैफ़े-गुदाज़
मेरे लिए कभी सब कुछ था आज कुछ नहीं
मगर ये राज़ कि मैं हूँ शिकस्त की आवाज़

(ज्ञान)

एक नाचीज़ से झोंके ने तुम्हें सहलाया
जाने किस दुनिया में पहुँची हुई तुम लौट आयीं
आह वो झोंका, वो लम्हा, वो किरन, वो काँटा

(नाचीज़ चीज़ें)

जाने यूँ ही रहेंगे अब कब तक
रेंगते साये, ऊँघती राहें
चंद सहमे हुए चहे और मैं

(बेबसी)

क़य्यूम नज़र ने उर्दू कविता को एक सजीव पार्थिवता, एक ऐसा यथार्थ दिया, जो अनुभूति और कल्पना के मर्मस्पर्शों से एक नया काव्यात्मक रूप-रंग पा जाता है और एक नयी सादगी और ताज़गी दी। मनुष्य, समाज-व्यवस्था और प्रकृति क़य्यूम नज़र की शायरी में एक दूसरे के पूरक बन गये हैं। क़य्यूम नज़र ने बहुत ही सामान्य प्रतीकों, बिंबों और नयी उपमाओं को नये अर्थ-संदर्भों में बड़ी सफलता से प्रयुक्त किया है। क़य्यूम नज़र ने मक़बूल अहमदपुरी, मसऊद हुसैन ख़ाँ आदि के साथ उर्दू में 'गीत' को एक निश्चित काव्य-रूप देने का सराहनीय प्रयास किया है।

शाद आरिफ़ी ने घरेलू जीवन और सामाजिक तथा सांसारिक समस्याओं को अपनी व्यक्तिगत काव्यानुभूति में परिणत कर के एक नये व्यंग्य को उर्दू शायरी में प्रविष्ट किया। उनकी भाषा में सीधापन और तीख़ापन है। अपने व्यक्तिगत अनुभवों को परंपरागत शैली के बजाय नयी सजीव शब्दावली में अभिव्यक्त करने के उनके सफल प्रयोग महत्वपूर्ण हैं। इब्ने इंशा ने भी इन सामान्य समस्याओं और प्रश्नों को विभिन्न तकनीकी प्रयोगों द्वारा काव्य-वस्तु बनाया है। आपने चीनी तथा जापानी काव्य-विधाओं में भी काफ़ी प्रयोग किये हैं और छोटी तथा लंबी कविताओं में सांस्कृतिक और दार्शनिक समस्याओं को एक निर्वैयक्तिक किंतु बड़े प्रभावशाली ढंग से छेड़ा है। शाद आरिफ़ी और इब्ने इंशा की कविताओं में वस्तुगत सामाजिकता का आग्रह अधिक है।

नये कवियों के अनेक संकलन अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। अब स्थिति यह है कि नयी कविता ढिठाई के साथ अपने अस्तित्व को महसूस करा लेती है। कुछ कविता-संग्रहों के नाम गिनाना मुनासिब है:

मीराजी की नज़्में : मीराजी मावरा और ईरान में अजनबी, नून मीम-राशिद : गिरदाब, आवज़ू, क़ंदील, पवन झकोले और सुवैदा, क़य्यूम नज़र : ज़ेरोबम, फ़ारिग़ बुख़ारी : मेरी नज़्में और तारीक सैयारा और यादें, अख़्तरुल ईमान : शबे रफ्ता, मजीद अमजद : मंज़िले शब, मुख़्तार सिद्दीक़ी : सरे शाम, ज़िया जालंधरी : चश्में निगराँ और दश्ते इमकाँ, अज़ीज़ हामिद मदनी : कोनोमकाँ और आतिशे सैयाल, आरिफ़ अब्दुल मतीन : ज़हरख़ंद और सदा-ब-सहरा, यूसुफ़ ज़फ़र : ज़ाते फ़िराक़, शाद अमृतसरी : नक़्शे कफ़े पा, जीलानी कामरान : शाम और साये, वज़ीर आग़ा : ज़ख्मे तमन्ना, मज़हर इमाम : गुफ़्तगू, मख़मूर सईदी : रिश्त ए दिल, बलराज कोमल : काग़ज़ी पैरहन, ख़लीलुर्रहमान आज़मी : अज़ल से अबद तक, मुनी-बुर्रहमान : शाम की दहलीज़, सलीमुर्रहमान : संग पैरहन, इंतिख़ाब और सिंदबाद, अमीक़ हनफ़ी : तेज़ हवा और तन्हा फूल और जंगल में धनक, मुनीर नियाज़ी : शहरे आरज़ू, बाक़र महदी :

खाली मकान, मुहम्मद अलवी : मौजेखूं, अहमद रियाज़ : जागते जज़ीरे, एहसन अहमद अश्क : हफ़्त किश्वर, जाफ़र ताहिर : नया साल, मौजे गुल और मौजे सबा : राही मासूम रज़ा।

हमरंग (मह्), सौग़ात (बंगलौर), सबा और पूनम (हैदराबाद), महवर, तहरीक और तखलीक़ (दिल्ली), किताब (लखनऊ), आईना (बंबई), नुसरत, सवेरा, अदबी दुनिया और फुनून (लाहौर), शऊर, इंशा, हमक़लम, अश्शुजा, अफ़कार, हफ़्तरंग और नया दौर (कराँची), कामरान (सरगोधा) आदि पत्रिकाओं में उर्दू की नयी कविताओं का बाहुल्य और बौद्धिक वर्ग में उसके ग्राह्य होने का ज्वलंत प्रमाण है। अन्य पत्रिकाओं में भी उसका प्रतिनिधित्व कम नहीं होता। प्रस्तुत लेख के दायरे में 'नयी ग़ज़ल' को नहीं लिया गया है।

यदि उर्दू के नये कवियों की एक विस्तृत सूची तैयार की जाय तो काफ़ी जगह घेर सकती है। फिर भी जो सूची छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे, नये-पुराने, 'नये शायरों' की मैं तैयार कर सका हूँ, वह यह है :

अख्तर एहसन, अख्तर नज़्मी, अज़ीज़ तमन्नाई, अज़ीज़ इंदौरी, अदीब सुहैल, अनीस नागी, अमीक़ हनफ़ी, असद मुहम्मद ख़ाँ, अख्तरुल ईमान, अज़ीज़ क़ैसी, अज़ीज़ हामिद मदनी, अतीक़ ताबिश, अंजुम रूमानी, अंजुम आज़मी, आदिल मंसूरी, आरिफ़ अब्दुल मतीन, इब्ने इंशा, अहमद मुश्ताक़, अहमद रियाज़, अहमद शमीम, क़मर जमील, काज़ी सलीम, कुमार पाशी, कृष्ण अदीब, कृष्ण मोहन, ख़ालिद शीराज़ी, गिरीशचंद्र, ग़ालिब अहमद, चंद्रप्रकाश शाद, जमील मलिक, ज़हूर नज़र, ज़िया जालंधरी, जीलानी कामरान, फ़ारूक़ हसन, फुज़ैल जाफ़री, बशीरबद्र, बाक़र महदी, नज़ीर सिद्दीक़ी, नज़ीर अहमद नाजी, नून-मीम-राशिद, मखमूर सईदी, महमूद सईद, महमूद शाम, मंज़र अय्यूबी, माधव, मीराजी, मुबारक हैदर, मुस्तफ़ा ज़ैदी, मुनीबुर्रहमान, मुहिब्ब आरिफ़ी, रहमान फ़राज़, राही मासूम रज़ा, राजनारायण राज़, वज़ीर आग़ा, शहज़ाद अहमद, शहरयार, शाज़ तमकिनत, शाद अमृतसरी, सलाहुद्दीन मुहम्मद, सहर उज्जैनी, सैयद आले अहमद, हसन शहीर, हमीद अलमास, हादी मुस्तफ़ाबादी, अहमद फ़राज़, अहमद ज़फ़र, अहमद हमेश, क़य्यूम नज़र, कैलाश माहिर, क़ैसर क़लंदर, खलीलुर्रहमान आज़मी, खुर्शीदुल इस्लाम, गोपाल मित्तल, गौहर नौशाही, चौधरी मुहम्मद नईम, जलील हाशमी, जावैद क़मर, ज़ाहिद डार, जाफ़र ताहिर, ताज सईद, फ़हमीदा रियाज़, बलराज कोमल, बशर नवाज़, बिमल-कृष्ण अश्क, बानी, नासिर काज़मी, निदा फ़ाज़िली, मजीद अमजद, महमूद अयाज़, मज़हर इमाम, महबूब खिज़ाँ, मुज़फ़्फ़र हनफ़ी, मुहम्मद अलवी, मुनीर नियाज़ी, मुहम्मद सलीमुर्रहमान, यूसुफ़ ज़फ़र, रज़ी अख्तर शौक़, राहत नसीम मलिक, शफ़ीक़ फ़ातिमा शैरा, शकेब जलाली, शहाब जाफ़री, शाद आरिफ़ी, सरमद सहबाई, सलीमुर्रहमान, सादिक़ मौला, साक़ी फ़ारूक़ी, हसन अख्तर जलील, हसन हमीदी आदि।

इनमें से कुछ ऐसे हैं जो केवल चमत्कारपूर्ण उक्तियों को नयी कविता का लक्षण मान बैठे हैं। कुछ ऐसे हैं जो अब तक किताबी उर्दू अर्थात फ़ारसी, अरबी-गर्भित भाषा का प्रयोग कर रहे हैं। कुछ में नव अभिजातवादी तथा नव रूमानी पकड़ बड़ी सख्त है। ऐसे भी हैं जो केवल हिंदी शब्दों के अस्वाभाविक प्रयोग को प्रधानता दे कर खुश हैं। लेकिन अधिकतर ऐसे हैं जिनमें

नयी संवेदनशीलता, नया युग-बोध, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और अनुभव तथा अनुभूति की ताज़गी है। इनकी भाषा सहज, स्वाभाविक और आम बोलचाल की भाषा है और इस तरह वे अपने आसपास के जीवन से सीधा संबंध रखने के कारण भारतीयता और विश्वव्यापकता को अपनी अभिव्यक्ति में एक साथ आत्मसात कर सके हैं।

जमील जालिबी (जिन्होंने इलियट के निबंधों का उर्दू में अनुवाद किया है) अपने हाल ही में प्रकाशित एक लेख (नये अदब का मसअला) में लिखते हैं:

जब मैं वर्तमान युग के उर्दू साहित्य और साहित्यकारों पर विचार करता हूँ तो यूँ ही मुझे उस बड़े गुब्बारे का ध्यान आता है जिसकी हवा निकल गयी हो और वह मैली-कुचैली धज्जी के मानिंद किसी बच्चे के हाथ में लटक रहा हो। अब इस गुब्बारे की उपयोगिता यह है कि बच्चे अपने मुंह से छोटे-छोटे गुब्बारे बनायें और रख कर पटाख़ से फोड़ें ताकि घर वाले चौंक जायें और बच्चे मज़ा लें। जालिबी साहब ने यह लिख कर एक छोटा सा गुब्बारा बना कर पटाख से फोड़ा है और उसकी इस आवाज़ से लोग चौंकें ही नहीं हँस भी पड़े हैं। यह सच है कि नयी कविता या नयी कहानी के नाम पर सभी भाषाओं में जो कुछ लिखा जा रहा है वह सब न तो नया है और न स्थायी मूल्य रखता है। लेकिन यह भी सच है कि जो कुछ अच्छा है, नया है, स्थायी मूल्य और साहित्यपन रखता है वह नये साहित्यकारों के सर्जनात्मक प्रयोगों और प्रयासों ही का परिणाम है। नीरवता और स्तब्धता को तोड़ने के लिए चौंकाना भी बहुत ज़रूरी है; चीख़ने-चिल्लाने, नारा लगाने, शोर मचाने से गुब्बारे फोड़ कर चौंकाना अच्छा ही है। उर्दू में बेशक़ आजकल बहुत से कवि हैं जो नये चुटकुलों और चमत्कारपूर्ण उक्तियों को छोटी-बड़ी कविताओं का रूप दे कर आलोचकों और गंभीर पाठकों से छेड़-छाड़ करने का आनंद उठाते है। इनमें से एक मैं भी हूँ और अपनी कुछ गुब्बारा-फोड़ कविताओं पर मुझे लेश मात्र शर्मिंदगी नहीं है। लेकिन न सभी कवि ऐसा करते हैं और न मैं हमेशा यही प्रयोग करता हूँ। हाँ, कभी-कभी ऐसी कविताएँ पढ़ कर मज़ा आता है और जब पढ़ने को नहीं मिलतीं तो खुद लिख डालता हूँ।

सादा, मासूम, कारना आगाह
तंज,—कामत, मिज़ाह-जोशे शबाब
ख़ूबसूरत सी काँच की गुड़िया
वक़्त के शीशागर ने दम दे कर
जिसको खुशक़ामती अता कर दी
और दोशीज़गी अता कर दी
दिख रही है जवान खामखाह

(लोलिता)

या

इक गोरा-गोरा सा बालक
सिगरेट की खाली डिबियों को

बैठे-बैठे फाड़ रहा है
पन्नी में चिपकी तंबाकू
धीरे-धीरे झाड़ रहा है
पन्नी के चमकीले टुकड़े
डिबियों में से छाँट रहा है
छाँट-छाँट कर फेंक रहा है
जग को चाँदी बाँट रहा है।

(बादल, कुहरा और चाँद)

अपना और पाठकों के मुँह का मजा बदलने के लिए हम लोग कभी-कभी ऐसी शरारत किया करते हैं और जब कोई नकचढ़ा आलोचक गंभीरतापूर्वक हमें उपदेश देता है तो हम सिद्ध कर देते है कि इन कविताओं में भी हमने बड़े युग-सत्यों को उद्घाटित किया है। सरल और सुलभ प्रतीकों और बिंबों की भाषा में! कविता में तो हम मनोवैज्ञानिक आसंगों से काम लेते हैं पर इन आलोचकों से निपटने के लिए तर्क-वितर्क की शक्ति भी हममें कम नहीं है।

नयी कविता क्या है? 'ए न्यू एन्थॉलोजी ऑफ़ माडर्न पोइट्री' की भूमिका में सेल्डन रोडमन ने लिखा है कि नयी कविता की बिंब-सृष्टि आम बोलचाल के ढंग पर निरूपित होती है। भाषा साधारणतया 'काव्यात्मक' नहीं होती, तुकों, अपवर्तनों और शब्दाडंबरपूर्ण संबोधनों का अभाव रहता है। कार्य-कारण-कारक वाले तार्किक पथ के बजाय एक बिंब से दूसरे बिंब तक आसंगों के सहारे कूदा जाता है। 'सार्वभौम' के बजाय साधारण पर बल रहता है। हाल ही में चीन्हे गये 'अचेतन' से अधिक सरोकार रहता है अर्थात प्रतीकात्मक 'पिता' से अधिक निकटता रहती है बजाय 'आत्मा' के। साधारण मनुष्य से संबंध रहता है और 'हीरो' या आदर्श और साधारणातीत मनुष्य को काव्य के दायरे से खारिज कर दिया जाता है। पार्थिव (सेक्यूलर) काव्य में सामाजिक व्यवस्था से अधिक सरोकार रहता है बजाय 'स्वर्ग' या 'निसर्ग' के और अपार्थिव (नॉन सेक्यूलर) काव्य में धर्म को अन्वेषण का नया क्षेत्र मात्र माना जाता है जैसे मनोविश्लेषण को बिंब-सृष्टि का स्रोत माना जाता है। जे० एम० कोहन अपनी पुस्तक 'पोइट्री ऑफ़ दिस एज' के अंत में कहते हैं कि कवि दूत-कर्म, विधायक और पुराण के रचयिता का कार्य दिनोदिन त्यागता जा रहा है। कविता अब संसार के स्वभाव और नियति के बारे में कोई बड़ी घोषणा नहीं करती बल्कि एक बार फिर निजी अनुभव की बात करने लगी है। डॉक्टर बच्चन सिंह के अनुसार नयी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ पाँच हैं। (१) वैयक्तिकता और व्यक्तिगत अनुभूति (२) मनुष्यता के प्रति एक नया दृष्टिकोण और नये मानवीय मूल्यों की खोज (३) बौद्धिकता (४) यथार्थवादी दृष्टि और (५) कुंठा, निराशा और आशंका। विद्यानिवास मिश्र ने नयी कविता के चार लक्षण निर्धारित किये हैं। (१) जीवन के आस्वादन में विश्वास। अहं का विलयन। मनुष्य के अनुभव को सामान्य से अधिक विशेष रूप में ग्रहण करने पर

बल। (२) पार्थिव जगत की समग्रता का ग्रहण। (३) प्रश्नाकुलता और (४) अपनी भावसंकुलता के अनुरूप लय तथा भाषा का अन्वेषण। लक्ष्मीकांत वर्मा ने नयी कविता की मूल स्थापनाओं में चार तत्व मुख्य बताये हैं। **(१) आधुनिकता में विश्वास (२) मुक्त यथार्थ का समर्थन (३) यथार्थ का साक्षात्कार विवेक के आधार पर न्यायोचित (४) क्षण और नितांत समसामयिकता के दायित्व की स्वीकृति।** हिंदी की नयी कविता की प्रवृत्तियों को वर्मा जी ने पाँच प्रकारों में विभक्त किया है:

(१) यथार्थवादी अहंवाद (२) व्यक्ति-अभिव्यक्ति की स्वच्छंद प्रवृत्ति (३) आधुनिक यथार्थ से द्रवित व्यंग्यात्मक दृष्टि (४) रस और रोमांस के साथ आधुनिकता और समसामयिकता का संपूर्ण प्रतिनिधित्व (५) समस्त यथार्थ का केवल बिंब रूप में ग्रहण (बिना आधुनिकता का संदर्भ छोड़े हुए)। उर्दू की नयी कविता में भी यही सब लक्षण, प्रवृत्तियाँ और स्थापनाएँ मिलती हैं।

उर्दू की नयी कविता की भावभूमि को परतंत्र और स्वतंत्र भारत की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक वस्तु-स्थितियों और उनसे उत्पन्न मनःस्थितियों ने तैयार किया है। आधुनिक शिक्षाप्राप्त, मध्यवर्गीय नवयुवकों की प्रतिक्रियाओं ने इस काव्यधारा को प्रवाहित किया है। ये लोग व्यक्ति और समष्टि के बीच नये संबंधों के अन्वेषक हैं। बने-बनाये रास्तों पर चलने पर तैयार नहीं और न पूर्वग्रहों को मानने पर रज़ामंद हैं। वे हर देखी हुई चीज़ को फिर अपनी आँखों से देखना चाहते हैं, हर समझी हुई बात को फिर अपनी बुद्धि और विवेक से समझना चाहते हैं और हर वास्तविकता का मूल्य समसामयिक परिवेश में फिर निर्धारित करना चाहते हैं। उनकी बुद्धि निर्बंध है; उनका मन सर्वतंत्र स्वतंत्र है। अगर बंधन भी हैं तो केवल वही जो परिस्थितियों और अनुभवों ने उनके व्यक्तित्व-निर्माण में अनिवार्यतः उन पर लगाये थे और जिनके निशान हाथ-पैरों की लकीरों की तरह उनके अभिन्न अंग बन चुके हैं। उनमें एक 'करुण भावना' है जिसके फलस्वरूप 'मनुष्य' को वे एक सूक्ष्म और विराट इकाई के रूप में प्रस्थापित करते हैं और मनुष्य को व्यक्ति पहले समझते हैं और और कुछ बाद में। उनकी मान्यता यही है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को विकास के लिए स्वयं बनाता है। वे बुद्धि, विवेक, भावना, आवेग, मन, आत्मा, शरीर और अनुभूति को अलग-अलग इकाइयाँ नहीं मानते और न मनुष्य को विभिन्न खंडों में बाँटना पसंद करते हैं। मनुष्य एक संपूर्ण अनंत इकाई है:

आसमाँ सदियों पुरानी रहगुज़र
मैं मगर इस रहगुज़र के मोड़ पर
संगेख़ारा की तरह
वक़्त के आग़ाज़ से अंजाम तक मौजूद हूँ

(बलराज कोमल : आलमे गुल)

मैं वक़्त के चीथड़ों में लिपटा हुआ
(बलराज कोमल : समंदर)

व्यक्तिगत अनुभूति और वैयक्तिक अभिव्यक्ति उर्दू की नयी कविता की भी प्राथमिक विशेषताएँ हैं। चूंकि वह पाश्चात्य काव्य-प्रवृत्तियों और पाश्चात्य कविता की आलोचना और मूल्यांकन मात्र से प्रेरित या उससे शासित नहीं है इसलिए विषय-वस्तु और तंत्र, शिल्प, शैली आदि के लिहाज़ से अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। पुराने मूल्यों और अर्थ-संदर्भों के मिटने और नये मूल्यों के परिवार-नियोजन के कारण उर्दू का नया कवि एक अजीब-सी उलझन महसूस कर रहा है। और अपने आपको स्मृतियों और स्वप्नों से अलग-अलग टूटा हुआ-सा पा रहा है। एकाकीपन और परायेपन का यह एहसास और आज की यांत्रिक संस्कृति की चेतना का द्वंद्व उसके मन में सदा चलता रहता है। विगत और अनागत के बीच वर्तमान की मँझधार में बह रहा है :

मैं वो आज हूँ जिसके लिए दोनों ही कल ताज़ीरें हैं
जिसकी साथी तन्हाई के आँसुओं की ज़ंजीरें हैं
(क़य्यूम नज़र : अकेला)

वो गुफाएँ
जिनमें रहती हैं हसीं यादों की परियाँ, अप्सराएँ
उन पे हैं माक़ूलियत के सख़्त पहरे
और मुस्तक़बिल के वो आईने, जिनमें
रक़्स करते हैं कई रंगीन ख़्वाब,
एटमी ज़र्रात हैं उन पर जमे।
अब न यादें हैं न ख़्वाब,
हाल है, हालात हैं
और मैं हूँ,
दरमियाने दोशो-फ़रदा
हाल के तख़्ते पे जाने किस तरफ़ बहता चला हूँ !
(अमीक़ हनफ़ी : शहरज़ाद)

हर इक उमंग की तितली ने जैसे जोग लिया
हर इक उमीद के जुगनू ने जैसे राख मली
× × ×
हयात है कि अभागिन है कोई कोखजली
(शफ़ीक़ फ़ातिमा शैरा : ज़वाले अहदे तमन्ना)

न जाने कौन से ऐमाल की सजा है कि आज
ये वाहिमा भी गया, सर पे आस्माँ है कोई!

(अख़्तरुल ईमान : बेचारगी)

बीच में रेत का इक सागर है
प्यास के इस गहरे सागर में
सैराबी को ढूँढ़ने वाले खो जाते हैं
इस सागर का नाम कन्हैया
डूबने वाली
जमना-तट पर रहने वाली
गोकुल की इक पगली राधा
जमना-तट से दूर कोई दीवानी मीरा
इकतारे के तार-सी तन्हा।

(राही मासूम रिज़ा : प्यास और पानी)

एकाकीपन और परायेपन की इस अनुभूति ने टूटने, बिखरने और मूलधारा से कटने का एक एहसास भी पैदा किया है।

ऐसा लगता है नहीं और कोई भी मौजूद
बेकराँ रात में घुल जाता है ख़ुद मेरा वुजूद

(फ़हमीदा रियाज़ : सोच)

मैं फ़लकज़ाद अपने अंदर से
टूटता जा रहा हूँ रोज़-ब-रोज़

(साक़ी फ़ारूक़ी : शिकस्त की आवाज़)

टूटता जाता हूँ, टूट रहा हूँ कि चलो
इस तरह कोई सदा, कोई तो हरकत होगी

(अमीक़ हनफ़ी : मुदावा)

इक-इक ईंट गिरी जाती है
सब दीवारें काँप रही हैं
अनथक कोशिश मैमारों की
सर को थामे हाँप रही हैं।

(अख़्तरुल ईमान : आमादगी)

इन अनुभूतियों ने आशंका, संदेहात्मकता और प्रश्नाकुलता को जन्म दिया है :

मैं सोचता हूँ
मैं डर रहा हूँ
तलब की यख़बस्तगी कहीं हिद्दते बदन भी न सर्द कर दे

(ज़हूर नज़र : आमदे-गर्दबाद)

और इस अँधेरे में
मेरे ज़हन की दीमक
मुझको चाट जायेगी

(ज़हूर नज़र : दीमक)

मुझे, जिसे आँधियों की यूरिश,
ख़िज़ाँ के तूफ़ाँ न छू सके थे,
कहीं नसीमे बहार–शाख़े निहाले ग़म से
जुदा न कर दे।

(अहमद फ़राज़ : शाख़े निहाले ग़म)

ये जहाँ
एक कोहे गराँ
जिससे टकरा के शायद न मैं बच सकूँ
क्या मेरे बाद ये मेरे बच्चे भी टकरा के मर जायेंगे ?

(हमीद अलमास : अज़ल-ता-अबद)

वही बेख़ाबियाँ पेवंद हैं शब के धुंधलकों में
सवालों की तरह हैं साअतें आवेज़ाँ पलकों में

(अज़ीज़ हामिद मदनी : दस्ते हिनाई तक)

मैं इस अंधी आवाज़ से बच निकलने की ख़ातिर
हज़ारों जतन कर चुका हूँ
दहकती हुई साँस को अपने सीने में रोके
लहू से तिही, बर्फ़ की उँगलियाँ अपने कानों में ठुँसे
अँधेरे के जंगल में दुबका पड़ा हूँ

मगर क्या करूँ
इस तआक़ुब में आती हुई चाप को क्या करूँ

(वज़ीर आग़ा : चाप)

ये मासूम पौदे...
मगर इनको इतनी ख़बर भी नहीं है कि इनके सरों पर
खुला आस्माँ है
जहाँ धूप किरनों के धागे से इनके कफ़न सी रही है

(कुमार पाशी : नयी फ़स्ल के नाम)

शोरिशे दहर मुझे भीख दे तनहाई की
कि ये एहसास न मर जाये कि मैं ज़िंदा हूँ

(शाज़ तमकिनत : सरबस्ता)

सायों के देव, अपने काले मुकुट
अबरूओं की शिकन पे सरका कर
जागती करवटों को तकते हैं

(मजीद अमजद : मुआशरा)

ये एक मेंढक हैं जर्द मेंढक
और एक दरिया-ए-खूँ के अंदर पड़ा हुआ है
और उसकी आँखें
ये जर्द मेंढक की जर्द आँखें
खुद अपने हल्क़ों के बोझ से दब के बाहर निकल पड़ी हैं

(साक़ी फ़ारूक़ी : हैरती)

[क्रमशः]

—१४०, गांधी पार्क कॉलोनी, इंदौर।

भीमसेन त्यागी

कहानी

सपूत

चंदर एक-एक क़दम पर दो-दो बार उचक कर—रामलीला के हनुमान जी की चाल चलता—घर से निकला ही था कि ताऊ अंबाप्रसाद की बैठक के सामने बाबू जी की आवाज़ सुनायी दी, "बेटे चंदर!"

वह काँप उठा। एकदम सामने पड़ जाने के कारण भाग निकलने का खुला रास्ता बंद हो गया था। वह मजबूर हो कर सुस्त क़दमों से उनकी तरफ़ बढ़ा। ताऊ जी और बाबू जी बाहर चबूतरे पर ही बैठे थे। चंदर चुपचाप उन दोनों के बीच जा कर खड़ा हो गया। उसकी निगाहें ज़मीन पर बिछी थीं, इसलिए वह न देख सका कि उस समय बाबू जी की नज़र में कितना प्यार घुला था...

दशहरे की छुट्टियों में बाबू श्यामनाथ घर आये हुए हैं। फक्कड़ आदमी हैं। बरसों से दूर-दराज़ के शहरों में रह कर बाबूगीरी करते हैं। परिवार क़स्बे में रहता है। वे बरस में दो-चार दिन के लिए मेहमान की तरह घर आते हैं।

चार बरस पहले घर आये तो चंदर की दादी ने कहा था, "ये तुम्हारे बाबू जी हैं। करो नमस्ते, बाबू जी को।"

उसी दिन कुछ देर बाद चंदर ने एकांत में दादी से पूछा था, "दादी, बाबू जी तुम्हें माँ कूँ कहवैं?"

दादी हँस पड़ी थीं और दाने निकले अनार जैसा उनका जबड़ा कुछ देर तक खुला रह गया था। चंदर उस हँसी का मतलब नहीं समझ सका था।

बाबू श्यामनाथ 'हैट' लगाते और फर्राटेदार अंग्रेज़ी बोलते। उनकी आँखों में हर समय लाल डोरे खिंचे रहते। उन्हें देख कर चंदर पर आतंक छा जाता। वह अक्सर उनके सामने न पड़ता और कभी न चाहते हुए भी सामना हो ही जाता तो गुमसुम रहता।

एक बार बाबू जी दादी की चारपाई पर बैठे बातें कर रहे थे। 'हैट' घुटनों पर रखा था। थोड़ी-थोड़ी देर बाद वे माथे पर झुक आये बालों को ऊपर सरका लेते। खूबसूरती से कटे-छँटे और जमा कर काढ़े गये लंबे-चिकने बाल देख कर चंदर को चिड़िया के बच्चे के नन्हें-नन्हें मुलायम परों की याद आयी थी। चंदर जानता है—वह बच्चा किसी को काटता नहीं, फिर भी उसके पास जाते एक अजीब नाज़ुक क़िस्म का डर लगता है।

कई बार बाबू श्यामनाथ, चंदर को अपने पास बुलाते और उससे प्यारभरी बातें करना

चाहते। उस समय चंदर को लगता जैसे वह गाय का बछड़ा है और कोई उसे ज़बर्दस्ती पानी में धकेल रहा है।

\+ \+ \+

"बेटा, नमस्ते करो ताऊ जी को!" चंदर को ज़मीन पर निगाह गड़ाये देख कर बाबू जी ने कहा। उनका स्वर बहुत मीठा था और दादी के कहने के अनुसार बड़ों को 'नमस्ते' करना अच्छी आदत भी थी, लेकिन उस समय चंदर का आधा होश ग़ायब था, बाक़ी होश से उसने पूछा : "कर लूँ नमस्ते ?"

उत्तर आया : "यहाँ आते ही तुम्हें ख़ुद ही नमस्ते करनी चाहिए थी। उस समय नहीं की तो नहीं की। अब क्या करोगे!"

"करो, बेटा। नमस्ते करो ताऊ जी को।" इस बार बाबू श्यामनाथ के स्वर में और भी घुलाव था, लेकिन चंदर के आधे होश ने एक बार इंकार कर दिया था तो अब इंकार ही था। वह चुपचाप दोनों मूढ़ों के बीच खड़ा रहा।

"बहुत अच्छे बेटे हो। अच्छे बेटे सबको नमस्ते करते हैं—हाँ!" बाबू श्यामनाथ ने प्यार की अंतिम बूंद तक अपने शब्दों में उँड़ेल दी। मगर चंदर को लगा, अब किसी भी क़ीमत पर नमस्ते करना उसका अपमान होगा।

इस बार भी बाबू श्यामनाथ की बात नहीं मानी गयी, यह उन्हें बुरा लगा। अब किसी न किसी तरह नमस्ते करा लेने में ही उन्होंने पिता होने की शान को सुरक्षित समझा। जेब से चवन्नी निकाल कर चंदर की तरफ़ बढ़ाते हुए बोले, "ले बेटे देख, अब जल्दी से कर ले नमस्ते।" इस बार भी उनके स्वर में मिठास थी लेकिन यह मिठास स्वाभाविक लाड़-प्यार का नहीं, कूट-नीति द्वारा आदिष्ट ख़ुशामद का था।

चंदर तुनक उठा—"हम नमस्ते करते तो ख़ुद ही करते। नहीं की है तो क्या अब यह चवन्नी लेकर करेंगे!"

वह अपनी जगह ज्यों का त्यों खड़ा रहा।

"कर ले, बेटे, कर ले," इस बार अंबाप्रसाद बोले, "बाबू जी का कहा मानते हैं।"

अंबाप्रसाद ने जो बात सीधे कही थी, उसे चंदर की दादी अनेक बार लोककथाओं के प्रभावशाली माध्यम से समझा चुकी थीं। ब्राह्मण के बेटे ने बड़ों का कहा माना तो उसे कैसा अच्छा फल मिला और सुनार के बेटे ने कहा नहीं माना तो. . .और अब चंदर की हालत सुनार के बेटे जैसी हो रही थी।

उसने ज़ोर खा कर अपने से कहा—कर क्यों नहीं लेता नमस्ते! बाबू जी ही तो कह रहे हैं—वही बाबू जी, जो संतरे और चीकू लाते हैं, जो पैसे दे-दे कर पास बुलाते हैं और मीठी-मीठी बातें करते हैं, जो अजनबी होते हुए भी विश्वसनीय हैं और जो बड़े ताऊ जी की तरह हर मर्ज़ की दवा मुक्कों और थप्पड़ों को नहीं मानते। मुक्कों और थप्पड़ों की तो बात ही क्या, बड़ी से बड़ी ग़लती हो जाने पर भी उन्होंने कभी धमकाया तक नहीं है. . .

दो बरस पहले बाबू जी रात को देर से घर आये थे। आते ही उन्होंने माँ से चाय बनाने के लिए कहा था, लेकिन घर में दूध खत्म हो चुका था। माँ ने लोटा और पैसे दे कर मुझे दूध लेने बाज़ार भेजा था। जोती की दुकान पर दूध न मिला तो मैं आगे बढ़ गया और एक-एक कर दुकानों को बंद देखते, बाज़ार के दूसरे नुक्कड़ पर दलपत पहलवान की दुकान पर जा निकला। वहाँ से दूध ले कर लौट रहा था तो डर लग रहा था कि देर हो जाने के कारण बाबू जी नाराज़ होंगे। डर के कारण डगमगाते क़दम तेज़ी से उठ रहे थे. . .घर के नज़दीक आते-आते तो मैं इतना घबड़ा गया कि चलने के बजाय दौड़ने लगा। दौड़ते-दौड़ते गली के नुक्कड़ पर मुड़ा तो ठोकर खा गया और औंधे मुँह गिरा। दूध तो बिखर ही गया, घुटने में चोट भी काफ़ी लगी। लेकिन उस समय चोट की तरफ़ ध्यान नहीं गया। यह सोच कर प्राण सूखे जा रहे थे कि घर पहुँचने में इतनी देर तो कर ही दी है, दूध भी बखेर दिया है. . .ख़ाली लोटा उठा कर लँगड़ाता-सुबकता घर पहुँचा तो देखा—बाबू जी बेक़रारी से इंतज़ार कर रहे हैं। मुझे देख कर बोले, "आ गया, बेटे!"

उनके स्वर में खुशी थी, लेकिन वह खुशी मुझे बहुत बुरी लगी। मालूम था कि यह खुशी जल्दी ही नाराज़गी में और फिर ग़ुस्से में बदलेगी। मैं जहाँ था, वहीं ठिठक गया।

"क्यों, दूध नहीं मिला क्या?" बाबू जी ने पूछा तो मेरी घिग्घी बँध गयी। लगा—जो मुसीबत अब तक मँडरा रही थी, वह अब गिरी सर पर. . .

लेकिन तभी पिता जी का स्वर सुनायी दिया, "यहाँ आओ, बेटे, शाबाश! यहाँ आओ!"

मैं मरे से क़दमों से रेंग कर उनके पास पहुँचा।

"अच्छा!" ख़ाली लोटा देख कर वे बोले, "दूध बिखर गया है?"

मुझे लगा—अब पड़ा चाँटा गाल पर. . .और चाँटा लगने से पहले ही उसकी सिहरन शरीर में दौड़ गयी।

लेकिन बाबू जी ने मुझे बाज़ू में ले कर अपने से सटा लिया। "अरे! इतनी सी बात पर रोते हैं। बहादुर लड़के हो तुम तो!" कह कर उन्होंने मेरा मुँह चूम लिया।

इस घटना के बाद मुझे विश्वास हो गया था कि बाबू जी देखने में साहब ज़रूर मालूम पड़ते हैं और उनकी आँखों में लाल डोरे भी खिंचे रहते हैं लेकिन वे बड़े ताऊ जी की तरह किसी को मारते नहीं या मार सकते नहीं! लेकिन पिछले साल बाबू जी घर आये तो एक और अजीब घटना हो गयी. . .

बात सिर्फ़ इतनी सी थी कि बाबू जी ने माँ को पानी लाने के लिए कहा तो माँ लोटे में पानी ले आयी। बाबू जी को यह बुरा लगा, बोले, "यह कोई तरीक़ा है पानी देने का। गिलास में लाओ।"

"अब तो इसी सै पी लो। गिलास मँजा हुआ नी है अर चूल्हे पै दूध रक्खा है।"

माँ ने सफ़ाई दी तो बाबू जी को और भी बुरा लगा। वे भड़क उठे, "ये क्या बदतमीज़ी है! लाओ, अभी गिलास माँज कर।"

जरा सी बात पर बाबू जी का भड़क उठना शायद माँ को भी बुरा लगा और वह चुपचाप चूल्हे के पास जा बैठी।

चूल्हा धू-धू जल रहा था और उसके ऊपर रखे दूध पर मलाई की हल्की-हल्की परत जमने लगी थी।

"कभी-कभी आते हैं तो तुमसे गिलास माँज कर पानी तक नहीं दिया जाता, रोज़ रहने लगें तो न जाने क्या हाल हो।" बाबू जी ने शब्दों को रबड़ की तरह चबाते हुए कहा।

लेकिन माँ अपनी जगह से नहीं उठी।

"मैं कहता हूँ—तुम लाती हो पानी या नहीं?" बाबू जी का ग़ुस्सा एक मंज़िल और चढ़ गया।

माँ उनके दोहरे स्वभाव को समझती है इसलिए चुप रहने में ही उसने खैर समझी।

इस बार की चुप्पी बाबू जी से न सही गयी और वे चीख उठे, "बोलती क्यों नहीं? मुँह फूट गया क्या?"

उत्तर में माँ ने केवल आँखें ऊपर उठायीं।

बाबू जी फिर चीखे, "पानी लाओगी या नहीं?"

"नहीं लाऊँगी," माँ ने चीख का जवाब चीख में दिया।

"हम देखते हैं, कैसे नहीं लायेगी!" कहते हुए वे उठ खड़े हुए, "कहो, लाऊँगी!"

"नहीं लाऊँगी—नहीं!"

"मैं कहता हूँ—मान जाओ। कहो—लाऊँगी।"

"नहीं कहती।"

"कहो!" बाबू जी फिर चीखे।

"नहीं!" माँ ने उसी तरह जवाब दिया।

"कहलवा कर छोड़ेंगे हम—चाहे कुछ हो जाय।"

"चाहे कुछ हो जाय—मैं नहीं कहूँगी।"

"कैसे नहीं कहेगी!" बाबू जी ने थरथराते हाथ से माँ के मुँह पर थप्पड़ जड़ दिया।

माँ की हथेली तेजी से गाल पर गयी और वह जहाँ खड़ी थी, वहीं बैठ गयी।

"कह!" वे पूरा ज़ोर लगा कर चिल्लाये।

"... ..."

"कह, लाऊँगी!"

"नहीं लाऊँगी, नहीं लाऊँगी!"

इसके बाद घर में एक तूफ़ान खड़ा हो गया। गाली, घूँसे, थप्पड़, लात बाबू जी एक के बाद एक प्रहार करते और थोड़ी-थोड़ी देर बाद चिल्ला कर कहते, "कहो—लाऊँगी।"

जवाब मिलता, "नहीं लाऊँगी, नहीं लाऊँगी।"

"बहू, मान जा। क्या घिसै है, तुई कह दे।" दादी ने प्रार्थना के स्वर में कहा।

माँ चुप रही।

"बेटे, तू ई मान जा," दादी ने पिता जी का हाथ पकड़ कर उन्हें रोकना चाहा तो उन्होंने दादी को पीछे झटक दिया और माँ के ऊपर तेज़ी से हाथ चलाने लगे।

चूल्हे में धू-धू आग चल रही थी और उसके ऊपर रखा दूध खौलने लगा था।

पास-पड़ोस के लोग आ जुटे थे। महाशय दयाराम ने आगे बढ़ कर बाबू जी को रोकते हुए कहा, "अरे बई! ऐसी बी क्या..."

"चले जाइए, आप यहाँ से!" बाबू जी महाशय दयाराम को पीछे धक्का देकर बोले, "मैं इस वक़्त किसी की नहीं सुनना चाहता।"

"आज क्या हो गया, बई, बाबू शामनाथ कू," पंडित देवीसहाय ने आश्चर्य प्रकट किया, "आदमी तो ऐसा नी है।"

"आदमी! बस नू ई ना कहिए", मीरू खलीफा बोले, "आदमी यी बड़ा जिद्दी है! तम नी जाणते इसै।"

"हाँ, एक दफै सुनारो से लड़ाई होगी थी। जब देखते इसे!"

"कुछ वी हो दूसरो की इज्जत पै हमला करने का इसे क्या हक है!"

"हक तो नी है पर बई, कोई ना कोई बात तो होगी ही।"

"बात होगी तो अपने घर की होगी," महाशय दयाराम फिर बोले, "इसका क्या मतलब के लोगों कू जुत्ते मारने शुरू कर दो!"

"इसका दिमाग तो खराब नी हो गिया..."

ऐसी ही चर्चा-कुचर्चा गली के दूसरे छोर पर खड़ी औरतों में चल रही थी...

लेकिन बाबू जी इस चर्चा से वेखबर, चिल्ला रहे थे, "कह—लाऊँगी!"

"नहीं लाऊँगी! नहीं लाऊँगी!!"

"अच्छा, मत ला!" कह कर बाबू जी ने पैर से जूता निकाल लिया और तड़ातड़ माँ के सिर पर बरसाने लगे...

चूल्हे पर रखा दूध खौलते-खौलते उफन आया था और दहकते कोयलों पर गिरने लगा था। सारे वातावरण में मिचमिची गंध भर गयी थी।

बाबू जी पूरी तरह होश खो बैठे थे और तड़ातड़ माँ के सर पर जूते बरसाये जा रहे थे। माँ मज़बूत काठी की थी, तभी इतनी मार झेल गयी। लेकिन अब ज्यादा मार माँ से भी नहीं झेली जा रही थी। उसने निरीह दृष्टि से बाबू जी की तरफ़ देखा।

बाबू जी बुरी तरह हाँफ गये थे और अब अपने ऊपर झल्ला रहे थे। वे चुपचाप एक तरफ़ जा खड़े हुए।

माँ ने उन्हें पराजित होते देखा तो बोली, "अच्छा, लाऊँगी।"

इस 'लाऊँगी' से बाबू जी को क़तई खुशी न हुई और वे बिना पानी पिये ही ऊपर छत पर चले गये...

\+ \+ \+

चंदर की निगाह बाबू श्यामनाथ के जूते पर गयी तो उसे लगा—नमस्ते न की तो कुछ

ही देर बाद यह जूता उसके सर पर होगा! 'लाऊँगी'-कांड उसकी आँखों के सामने तैर रहा है और वह अपने को छू-छेड़ कर कह रहा है : कर ले नमस्ते! लेकिन मन में न जाने कैसी निर्लज्ज गोल गाँठ लगी है कि खुलने में ही नहीं आती।

बाबू श्यामनाथ के लाड़-प्यार का जादू तो चला ही नहीं, उनकी रिश्वत और कूटनीतिक जोड़-तोड़ भी चंदर को नहीं फुसला सकी। अब उनका बाप होने का गर्व ख़तरे में था और वे किसी भी क़ीमत पर नमस्ते करा ही लेना चाहते थे।

"नहीं मानोगे, चंदर!" उन्होंने भवें टेढ़ी कर के तीखे स्वर में कहा, "हम कहते हैं— करो नमस्ते ताऊ जी को!"

इस बार भी चंदर को चुप देख, वे और भी ज़ोर से चिल्लाये, "नहीं करेगा, ऐं?"

"मन नहीं कहता तो नहीं करूँगा"—चंदर ने अपना निश्चय दोहराया।

इस बार भी उसे चुप देख कर बाबू श्यामनाथ के आत्म-सम्मान को उपेक्षा का दोहरा तीर लगा। वे लगभग चीख उठे, "अबे, बहरा हो गया क्या!"

ज्यों-ज्यों उनका स्वर तेज़ी पकड़ रहा था, त्यों-त्यों चंदर के दुराग्रह की गाँठ कसती जा रही थी।

इस बार भी उसे चुप देख वे चीखे, "अबे, बोल!"

उनका स्वर चंदर के कानों में ही नहीं, पूरे शरीर में बज उठा और देर तक बजता रहा। लेकिन उत्तर में एक अक्षर भी मुँह से नहीं चुआ।

"तड़-तड़!"

एक के बाद एक दो चपत चंदर के गाल पर पड़े और उसके सामान्य ज्ञान में वृद्धि हो गयी कि स्कूल के मास्टर जी की उँगलियों से ज्यादा करारी उँगलियाँ भी किसी की हो सकती हैं!

"बोल!" बाबू श्यामनाथ ने हाथ हवा में तानते हुए चंदर को घूरा, "अब तो बोल!"

अंबाप्रसाद ने बिल्ली के झपट्टे की तरह श्यामनाथ का हाथ पीछे खींच लिया और निर्णय के स्वर में बोले, "छोड़ो, भई शाम, बच्चा है!"

"अजी, बच्चा नहीं," श्यामनाथ की गुर्राहट और बढ़ी, "यह हराम का बच्चा है! न होता तो यह बेअदबी करता। इसका यही इलाज है. . ." उन्होंने झटके से अपना हाथ छुड़ा लिया और फिर तड़-तड़, तड़ातड़. . .

"अरे भई, क्या कर रहे हो!" अंबाप्रसाद ने मूढ़े से उठ कर रोकने की कोशिश की। ज्यादा सक्रिय होने की इजाज़त उनका बुढ़ापा नहीं देता था।

"जब तक यह नहीं बोलेगा, मेरा हाथ नहीं रुकेगा!" कह कर बाबू श्यामनाथ ने एक के बाद एक पाँच-छः चपत चंदर के गालों पर जड़े और अंत में एक ज़ोरदार धौल गरदन पर जमा दी।

चंदर की कमर तिरछी हो गयी और वह तीन-चार क़दम आगे खिसक गया। खिसक

कर वह जहाँ जाता, उससे पहले ही दीवार थी। चंदर की नाक बुरी तरह दीवार से टकरायी और उससे ख़ून बहने लगा...वह धम्म से बैठ गया।

बाबू श्यामनाथ भारी क़दमों से उसकी तरफ़ बढ़े और हाथ पकड़ कर झटके के साथ उसे खड़ा कर दिया। झटके के अंदाज़े से ज़ाहिर था कि अभी उनका इरादा और भी कुछ करने का था लेकिन चंदर की नाक से बहती ख़ून की धार देखी तो स्तंभित रह गये। बोले, "चल भाग यहाँ से।"

उस स्थिति में भी चंदर भाग खड़ा हुआ। घर पहुँचा तो माँ रसोई में बैठी थी। चंदर उसके पास जा खड़ा हुआ और कमीज़ की बाँह से नाक का ख़ून पोंछ कर सुबकते हुए बोला, "माँ...माँ, वे मार-पीट के...तेरे से...चाहे जो...कहलवा लें...मेरे से...नमस्ते... नमस्ते नी...करवा सकते!"

—८८२८, नया मुहल्ला,
पुल बंगश, दिल्ली–६।

लक्ष्मीनारायण दुबे

स्वर्गीय 'नवीन' जी के कुछ पत्र

स्वर्गीय कविवर बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' हमारे समकालीन थे। उनको अनेक व्यक्तियों ने देखा और परखा था। वे जीवन भर निस्संग बने रहे। मस्ती और ममता का ऐसा आलम अब और कहीं नहीं दिखायी पड़ता। मस्ती को उन्होंने लुटाया और बिखेरा। वे सर्वहितकारी थे। वे अपने को भी भली भाँति जानते थे। अपने ही काव्य में उन्होंने अपने को 'फक्कड़', 'मस्त-मौला', 'सिड़ी', 'बौड़म', 'अनिकेतन', 'अलख निरंजन के वंशज', 'आजानु बाहु' आदि व्यावहारिक संबोधनों से पुकारा है। जग-जंजाल के संबोधनों से 'स्व' को युक्त कर, वे आजीवन अव्यावहारिक और परदुखकातर ही बने रहे। उन्होंने संग्रह नहीं किया और न माया से नाता जोड़ा। लुटने और लुटाने का वे आनंद लेते रहे। उनका यह निर्लिप्त तथा मनुजता से ओतप्रोत व्यक्तित्व उनके पत्रों में अपनी थाती समेटे बैठा है।

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने मुझे अपने एक पत्र में लिखा था कि यदि एक वाक्य में स्व० नवीन जी के व्यक्तित्व के विषय में कोई मेरी सम्मति पूछे तो मैं कहूँगा : **"हिंदी के उन वर्तमान लेखकों और कवियों में, जिनसे मेरा परिचय है, मैं एक भी ऐसे व्यक्ति को नहीं जानता जो 'नवीन' जी की जूतियों के तस्मे खोलने की भी पात्रता रखता हो। व्यक्ति के रूप में सर्वोपरि तथा सुंदर काव्य और ओजपूर्ण गद्य के प्रणेता के रूप में अतुल्य थे। वर्तमान कवियों में और 'नवीन' जी में व्यक्तित्व के खयाल से कौड़ी-मुहर का अंतर है।"**

'नवीन' जी के पत्रों में उनके इसी निष्कपट और उदार व्यक्तित्व के प्रोज्वल दर्शन होते हैं। उनके मानवीय पक्ष की सर्वाधिक सुंदर अभिव्यक्ति उनके पत्रों में ही मिलती है। उनके कतिपय सर्वथा अप्रकाशित मौलिक पत्रों के उद्धरण इसके साक्षी हैं।

इंदौर के श्री दामोदरदास झालानी, जिन्हें 'नवीन' जी 'दामू दादा' कहते थे, उनके बाल्य सखा और महान पोषक रहे हैं। उन्हें लिखित एक पत्र में 'नवीन' जी की विनम्रता तथा सदाशयता का उद्घाटन होता है।

५, विंडसर प्लेस, नयी दिल्ली
२४-९-५४

पूज्य दामू दादा,

आपका कृपापत्र दिनांक १४-९-५४ का मिला। मुझे स्वयं चि० कृष्णदास की चिंता

लगी रहती है। आपने जिन स्थानों के लिए लिखा है उनके संबंध में, मैं प्रयत्न करूँगा। आप कृपया चि० कृष्ण के आवेदन-पत्रों की प्रतिलिपियाँ—यदि हों तो—मेरे पास भिजवाने का कष्ट करें। आप सानंद हैं—ऐसा विश्वास है। रुपयों के विषय में जो आपने कहा है, वह ठीक नहीं। आपके ऊपर मेरा कोई ऋण नहीं। पुण्यश्लोका जीजी ('नवीन' जी की माता जी) के रुपये तो आप ही के हैं। मेरा उन पर कोई अधिकार नहीं। आप मेरे ऋणी नहीं हैं। वास्तव में तो मैं आपका चिर ऋणी हूँ। आपकी छत्रछाया और कृपा मुझ पर सदा बनी रहे—यही प्रार्थना भगवत-चरणों में है। पूज्या भाभी, बच्चों तथा बेटियों और पौत्र-दौहित्रों को प्यार।

आपका वात्सल्यभाजन,
बालकृष्ण

'नवीन' जी की माता जी के देहावसान के पश्चात ये पत्र लिखे गये थे। एक अन्य पत्र में इसी संदर्भ में अपने भतीजे को उन्होंने अपनी शैशवावस्था के आश्रयदाता 'दामू दादा' के विषय में लिखा था––

'प्रताप', कानपुर,
४ जनवरी, '४८

प्रिय चि० मनोहर,

शुभ आशीः।

तुम्हारा पत्र मुझे मिला। मैंने तार द्वारा पूज्य दामू दादा से निवेदन कर दिया है कि वे घर की वस्तुओं को, तालिका बनाने के पश्चात—अर्थात उनकी सूची बना कर—तुम्हें सौंप दें। तुम्हारे मन में दामू दादा की सतर्कता के कारण किसी प्रकार का उद्वेग उत्पन्न न होना चाहिए। उन्होंने जो कुछ भी चौकसी बरती वह सांसारिकता की दृष्टि से उचित थी। उनके लिए यह स्वाभाविक था कि इस विषय में मेरा मत जान लें। अब जब मैंने घर को तुम्हें सौंपने के लिए उनसे कह दिया है, तब उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी। पूजनीया जीजी का उत्तर कार्य तुम करो। इस संबंध में जो खर्च हो वह तुम्हें दामू दादा से मिल जायगा। मैं इस समय आ नहीं पा रहा हूँ। इसका मुझे दुख है। पर यहाँ के सार्वजनिक कार्यों की झंझट मुझे घेरे हुए हैं।

तुम्हारा मंगलप्रार्थी,
बालकृष्ण शर्मा

'नवीन' जी के पत्रों से उनके मुकुर सदृश निर्मल, स्वच्छ और सहिष्णु मानस का परिचय मिलता है। अपने मित्रों को वे अपना सब कुछ मानते थे और बड़े से बड़ा त्याग करने को सदैव कटिबद्ध रहते थे। जबलपुर के उनके परम मित्र श्री रामानुजलाल श्रीवास्तव को लिखित एक पत्र से उनकी मैत्री-भावना, सरल-सहज व्यक्तित्व, विनोद और वात्सल्य का झरना फूट पड़ता है—

५, विंडसर प्लेस, नयी दिल्ली,
२२ सितंबर, १९५२

प्यारे भाई रामानुज,

तुम बदमाश हो। ऐसा लिखते हो कि बरबस आँखें भर आती हैं और हृदय उमड़ पड़ता है। जिसे तुम 'तुकबंदी' कहते हो, वह स्वर्गीय जगतमोहन 'खाँ' (उन्नावी) के शब्दों में **शायरी नहीं, है गुफ़्तगू दिल की**। तुम याद तो सदा आते रहते हो। पत्र लिखने के आलस्य से कहीं यह न समझ बैठना कि तुम कभी विस्मृत हो सकते हो। बात यह है कि तुम्हारे सदृश हृदयवान, सदाशयी, मुक्तमन, स्नेही, निश्छल, प्यारा मानव कठिनता से मिलता है। तुम उस जाति के हो, जिसके उदाहरण अब लुप्त होते चले जा रहे हैं। इस आपाधापी के युग में तुम्हारे सदृश जन के कारण ही सौहार्द शेष बचा दिखायी देता है। हाँ, स्वास्थ्य की ओर से उदासीन न रहना। तुम्हारी ओर जो मेरा खिंचाव है वह वैसा ही है जैसा एक माशूक़ के प्रति होता है। न जाने क्यों, यानी आप अपनी सूरत देखिए, माशा अल्लाह! पर, हैं आप शुद्ध माशूक़। न कहोगे बाबू, कि हम भी उस साले मजनू या फ़रहाद के कुल के हैं। प्यारी ऊँटज़ादियों और आयुष्यमान ऊँटज़ादे को बहुत-सा प्यार। बहूजी को नमस्कार।

तुम्हारा,
बालकृष्ण

'नवीन' जी की साहित्यिक क़द्रदानी जग-विख्यात रही है। कवि-सम्मेलनों में उन्हें अक्सर रोते, मुक्त रूप से वाह-वाह करते, झूमते और कभी-कभी चरण पकड़ते या पैरों में गिरते भी देखा गया था। ऐसा सहृदय मानव अब न भूतो न भविष्यति। उनके एक पत्र में इसी भावना का चरमोत्कर्ष दिखायी देता है। यह पत्र भी श्रीवास्तव जी को लिखा गया था—

५, विंडसर प्लेस, नयी दिल्ली,
४ जून,' ५४

प्यारे,

तुम्हारी उनींदी रातों ने रुलाते-रुलाते भोर कर दिया। क्या लिखते हो, भाई। तुम्हारे हृदय में जिसने इतना नवनीत, इतना स्पंदन भर दिया उसे शतशः प्रणाम। तुम्हारा तो वह चिर परिचित है। तुमने **'ध्यान है इतना किया पद का कि पद-ध्वनि जान ली है'** उस अलबेले निठुर की। और उस ध्यान के बल हम जैसे क्षिप्तचित्त-अभागों को तुमने जो रस-पान कराया है उसके लिए मेरे शत-शत साधुवाद स्वीकार करो, प्यारे। और हाँ, उसने भी तुम्हें पहचान लिया है। तुम्हारे यह कहने के पूर्व ही कि **'वेष से, कुछ भाव से, कुछ आर्त स्वर से जान लेना, तुम मुझे पहचान लेना'** वह तुम्हें प्रेम-सगाई की कुंकुम पत्रिका भेज चुका है। तभी तो तुम्हारे छंदों में, उसकी मुरली के स्वरों के सदृश ही, मादक विष भर गया है। मैं इतना जान पाया हूँ कि तुम्हारी 'उनींदी रातें' सार्थक हुईं। तुम्हें विश्वास न होगा, समूची पोथी में मैंने प्रायः प्रत्येक

पृष्ठ पर, पेंसिल-चिन्ह कर दिये हैं। इधर किसी काव्य-पुस्तक को पढ़ कर मैं इतने भावावेश में नहीं आया जितना तुम्हारी 'उनींदी रातों' को पढ़ कर। यदि तुम इसे अतिरंजन न मानो तो मेरी इस बात को सुनो कि प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पढ़ते-पढ़ते मुझे, एक-दो बार अपना चश्मा पोंछना पड़ता था, और नेत्र-नासा स्वच्छ करनी पड़ती थी। क्या कहूँ, क्या न कहूँ ! मैं तो इस समय भी जब ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ, सजल-नयन हूँ। तुम्हारी कोई सी भी पंक्ति याद आ जाती है तो जैसे अंतर में ज्वार आ जाता है। तुम सच्चे अर्थों में रस-सिद्ध हो भैया।

डूबता हूँ, अगम जल है, और झंझावात क्या है।
डूबतों से भागते हो, आज ऐसी बात क्या है?
तुम रुको, मैं सिर झुका दूँ, बस, वहीं बन जाय गंगा-तट,
अब न रूठो, खोल दो पट।

क्या पंक्तियाँ हैं। 'तुम रुको', 'मैं सिर झुका दूँ'—ये दोनों कर्म 'काल' के बिंदु पर स्थिर होंगे। और तुमने 'बस, वहीं बन जायगा तट' कहकर 'काल' को 'दिक्' में परिवर्तित कर दिया है। इतना ही नहीं, 'काल' के एक स्वरूप को दूसरे स्वरूप में भी परिणत करने का—दिवस को रात्रि में परिणत करने का—भी साहस किया है।

'किंतु मैं इस दिवस को, कर सहज ध्यान त्वदीय छवि का, आज यदि कर दूँ मिलन की रात, तो तुम क्या करो प्रिय?'—क्या ही सुंदर, सहज, प्राण-मंथन-शील प्रश्न है! दिवस में प्रियतम के ध्यान की तीव्रता, एकनिष्ठा और तदात्मीयता स्थित हो जायगी, तो सहज ही वह दिवस योग-निद्रापूर्ण, महारासमंडित शारदीया शर्वरी में परिणत हो जायगा। यों दिवस, शक्ति-शास्त्रसम्मत 'सर्वदा काल'—रात्रिकाल—में परिवर्तित होता अनुभूत होगा।

तुमने अपनी अनुभूतियाँ जिस सहज शैली में व्यक्त की हैं उससे यह स्पष्ट है कि तुम शब्दाडंबर का जाल बिछाने की बहेलिया-वृत्ति को त्याज्य समझते हो। साथ ही यह सहजता तुम्हारे हृदय की ऋजुता भी दरसाती है। कविताओं में तुमने अपने को अचैल रूप में रख दिया है। तुम दंभी नहीं, पाखंडी नहीं, ढोंगी नहीं; तुम सरलता की मूर्ति हो। अपनी दुर्बलताओं को भी तुम मुक्त हृदय से स्वीकार कर लेते हो। तुम शुद्ध हृदय हो। स्वर्गवासिनी बहन सुभद्रा की कारागार-यात्रा के समय जो तुमने कविता लिखी थी वह तो मध्यप्रदेश के राजनीतिक इतिहास में एक तुंग भू-चिन्ह बन गयी है। और हमारे हिंदी साहित्य में तो वैसी स्नेह-श्रद्धांजलियाँ इनी-गिनी ही होंगी। तुम जुग-जुग जियो—यही मेरी प्रार्थना भगवत-चरणारविंद में है। मैं भी आलसी और तुम भी आलसी। पत्र लिखने की बात ही नहीं उठती। क्यों? पर, यार, कभी-कभी लिख दिया करो एकाध चिट्ठी। बच्चों को प्यार। बहूजी को नमस्कार।

तुम्हारा वशवर्ती,
बालकृष्ण

'नवीन' जी की अत्यधिक भावुकता तथा करुणाशीलता का कुंभ उनके पत्रों में भी फूटता प्रतीत होता है। वे बड़े भावुक थे । उनमें अतिवादी रूपों का सरस समुच्चय था। उनके पत्रों में लिखित मानवीयता के गुण और उपादान उनमें प्रचुर रूप से उपलब्ध थे। एक बार श्रीवास्तव जी ने अपनी रुग्णता की दशा में 'नवीन' जी के देखने आने पर लिखा था :

क्षण भर को आँगन में आ कर, तुमने जीवन-दान दे दिया।
पदनत शव छू, 'मम प्रिय भव' कह, मृत तन-मन को प्राण दे दिया।

'नवीन' जी के देहांत के पश्चात श्री परिपूर्णानंद वर्मा और श्री रामानुजलाल श्रीवास्तव ने एक दूसरे को शोक-संदेश और समवेदना-पत्र भेजे थे ।

'नवीन' जी के पत्रों में आत्मीयता, अपनत्व और प्यार का पारावार उमड़ता प्रतीत होता है। वे सबके थे और सब उनके थे । न कोई भेद-भाव, न दुराव ! खुली पुस्तक। जो देखना हो, देख लो; जो माँगना हो, माँग लो; जो कहना हो, कह लो। वे तो मस्त फ़कीर थे । न यश की लिप्सा, न धन की लोलुपता। झगड़ा न झाँसा—ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर। देना सब कुछ, लेना कुछ नहीं। वे 'दान' की भाषा जानते थे, 'ग्रहण' की बोली से अपरिचित थे । जिनके लिए आज का व्यक्ति आकाश-पाताल एक कर देता है, पाप-पुण्य और सद-असद की भाषा नहीं समझता, उन्हीं पदों, सम्मान, अभिनंदन-ग्रंथों को उन्होंने ठुकराया। सन् १९५९ की उनकी वर्षगाँठ के अवसर पर अपने एक पत्र में श्री विष्णु प्रभाकर ने लिखा था कि **हिंदी साहित्य की आपकी देन सब पर प्रगट है, उसका मूल्यांकन हम क्या करें ? आपके व्यक्तित्व को किस कसौटी पर कसें; हम तो उस स्वर्णकार की तरह हैं जो कमल-वन में जा कर कमल-पुष्प को कसौटी पर कसता है।**

'नवीन' जी के ही शब्द उन पर चरितार्थ किये जा सकते हैं कि तुम्हारे सदृश हृदयवान, सदाशयी, मुक्तमन, स्नेही, निश्छल, प्यारा मानव कठिनता से मिलता है। तुम उस जाति के थे, जिसके उदाहरण अब लुप्त होते चले जा रहे हैं।

—सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०)।

इंदु बाली

कहानी

कलंकिनी

सहेलियाँ बिछुड़ गयीं; माता-पिता भी बिछुड़ गये और पल भर में देवला बचपन को लाँघ यौवना बन ससुराल पहुँच गयी। देवला भी खुश थी। कितना अपूर्व सुखद क्षण था वह—यह भावना भी बड़ी ही सुखद थी। उसका कण-कण अपने प्रियतम का दर्शन पाना चाहता था; उन्हें पास से निहारना चाहता था।

सारे रास्ते वह पास बैठी होने पर भी दूर-दूर से ही उन्हें निहारती रही। मग्न पुलकित प्रतीक्षा की मधुर लोरी की तरह! चारों तरफ़ की खिली प्रकृति उस दिन उसे बहुत ही प्यारी लग रही थी। वह नयी सी लग रही थी, जिसे वह पहले न जानती थी। खेतों में खिली, फूली सरसों! उसने भी तो पीले रंग की गोटे-सजी साड़ी पहन रखी थी। उसकी सब बहनों की शादी हुई थी गुलाबी रंग की साड़ियों में, पर वे सुखी न थीं। पति का प्यार, दुलार, अपनापन वे न पा सकी थीं। उसकी माँ को वहम सा हो गया था, इस रंग का। उसका एक भी कपड़ा गुलाबी रंग का नहीं था। उसकी माँ ने तो यहाँ तक ध्यान रखा कि कोई इस रंग को पहने उसके शगुनों के समय, समीप तक न जाने पाये। इस कारण उसकी खुशियों की पहरेदार-सी बनी उसके आसपास मँड-राती रही। उसने सारे काम खुद अपने हाथों किये। रिश्तेदार उसे पागल कह कर मन ही मन व्यंग्यमय हँसी से खिल उठते पर उसे क्या! रोती आँखों से लाख-लाख आशीर्वाद देते हुए उसे डोली में अपने हाथों बिठा कर विदा किया।

सुहागरात थी। फूलों की सेज। सुवासित रेशमी बिस्तर। मद्धम-मद्धम रोशनी की लंबी-लंबी किरणें छत पर फैल रही थीं। रोशनी छुपी हुई थी ताकि कहीं उसका रूप देख आँखें न चौंधिया जायँ। पलंग के सिरहाने दूध, फल आदि का ढेर—मानो जीवन केवल रसमय हो, केवल सुहावना हो। उसके पति धीरे से उठे। सोने के कपड़े पहने हुए थे, श्वेत-सात्विक। यह उनका एक नया ही रूप था। देवता-से लग रहे थे। उसने मन ही मन झुक कर चरणों का स्पर्श कर लिया। नारी-सुलभ लज्जा ने उसके गोरे-गोरे मुख पर आवरण डाल दिया। वे और पास आ गये। वह सिमट गयी। झुकी-झुकी पलकों से उन्हें निहारती सी उन्हीं में लीन हुई सी। वे उसे देखते जाते और वह उन्हें। वह झुकी-झुकी पलकों को कभी-कभी बीच में उठाती पर उन्हें भी अपनी ही तरफ़ देखते देख, फिर न जाने कहाँ से पलकें झुक जातीं।

न जाने वे कहाँ-कहाँ की बातें सुनाते रहे और देवला हँसती रही। इतना हँसी कि पल में अपनी-सी हो गयी। शर्म और परायेपन की दूरी दूर हो गयी। वे दोनों मिल कर हँसते रहे।

जैसे सागर में खो कर नन्हीं बूंद भी लहरा उठती है, पल भर में उसका अस्तित्व विशाल हो जाता। वह फूली नहीं समा रही थी, उसकी कोमल कल्पना, उसके सपने सब सजीव थे।

रवींद्र कुछ गुनगुनाने लगा और फिर धीरे से देवला को अपनी बाँहों में बाँध कर बोला, "तुम भी गाओ न?" बंधन से छूटती सी वह बोली "मुझे नहीं आता।"

"झूठ।"

"सच।"

"देवला! कम से कम आज के दिन तो सच बोलो।" वह हँस दिया।

"सच कह रही हूँ, नहीं आता।" वह शर्म से लाल हो गयी। रवींद्र गुदगुदा देता और फिर आग्रह करता। पर देवला के शब्द और साँसें जम सी गयी थीं। वह गाना चाह कर भी गा न पा रही थी। उसे न जाने कहाँ से ज़िद ने घेर लिया था। मन ही मन देवला सहम गयी थी; डर लग रहा था कि रात के शांत वातावरण में घर के सब सुनेंगे तो क्या कहेंगे। वैसे हज़ारों बार सभाओं में वह गा चुकी थी पर आज इस खुशी में भी भय का एक बोझ सा लदा था उसके मन में और वह दबी जा रही थी, सीधी न हो पा रही थी—बोझ उतरे तो तन कर वह गा पाये। पर यह सब संभव न था। वह अपने शब्दों को समेटती सी बोली, "फिर कभी सुना दूंगी।"

"अभी क्यों नहीं।"

"सब लोग सुन लेंगे, जाग जायँगे।"

"तो क्या हुआ?"

"मुझे अच्छा नहीं लगता।"

"क्या अच्छा नहीं लगता? गाना न? पर मुझे अच्छा लगता है, गाओ न? मेरे लिए।"

"माँ जी जाग जायँगी तो क्या सोचेंगी?"

"सोचेंगी क्या, वे जानती हैं उनका बेटा रसिक है।" वह गर्व से मुस्कुरा उठा।

"नहीं...मैं नहीं गा पाऊँगी।" गला भर आया था।

"विवाह कर के लाया हूँ, कोई भगा कर तो नहीं।"

"नहीं...नहीं...फिर कभी।" वह काँप सी गयी।

"मुझे तो आज ही और अभी सुनना है, तुम्हें क्या मालूम, सगीत मेरे जीवन में क्या है!"

"जानती हूँ।" जरा हँसने की चेष्टा करती वह गुनगुनायी।

"सच।"

"हूँ।" वह झूम सी गयी, बात बदलने के लिए।

"फिर गाओ न।"

"ऊँहूँ।"

"आज न गाओगी तो फिर कब गाओगी...मेरी झंकार...मेरा तो रोम-रोम मचल रहा है। पिला दो न?"

"क्या ?" वह चौंकी।

"नशा।"

"क्या कह रहे हैं ?"

"गाओ न, गाना मेरे जीवन का नशा है और तुम झंकार! चलो दोनों मिल कर गायें ताकि देवता भी हमारे संगीत में बँधे से पृथ्वी पर उतरने को मचलने लगें।"

"सच, आप ज़िद न करें...मैं फिर कभी सुना दूँगी, वादा करती हूँ...अच्छा कल।"

फिर न जाने वह क्यों चुप हो गया। एक खिन्नता की क्षीण रेखा सी दोनों के बीच खिंच गयी थी। पल भर ठहर रवींद्र ने पास पड़ा दूध का गिलास उठाया और देवला के होंठों से लगा दिया। देवला ने हाथ से हटाते हुए रवींद्र के होंठों तक बढ़ा दिया। मानो कह रही हो, "पहले आप।"

रात घनी हो चली थी। पलकों की लज्जा कुछ कम। रात का अँधेरा ऊँघने लगा था। चाँद भी मदहोश था। रवींद्र देवला को साथ लिये खिड़की के पास जा खड़ा हुआ। इतने समीप आते ही देवला न जाने क्यों काँप उठी। प्रकृति के फैले अँधेरे और घरों की शांत परछाइयों की तरफ़ इशारा करते हुए रवींद्र कहने लगा, "देखा, कैसा लग रहा है ?"

"हूँ"।

"कितना वीरान सा ?"

"जी।"

"तुम मेरे जीवन की ऐसी ही वीरानी में एक मदहोश चाँद हो। इस वीरानी को संगीत से भर दो। अपनी मुस्कान से आलोकित कर दो।"

"सच ?"

"हूँ।"

फिर न जाने क्यों दोनों मौन भाव से पल भर दूरियों में निहारते रहे। रवींद्र ने फिर चाँद को देखते हुए कहा—

"लेकिन मुझे लगता है, जो अस्तित्व तुम्हारा मेरे जीवन में है, वह शायद सृष्टि के किसी दूसरे कण में होना असंभव है।"

देवला अव संतुलित हो गयी थी। उसे अपने चमकीले भाग्य पर एकाएक विश्वास न हो रहा था। कहाँ से इतना भाग्य सिमट कर उसमें आ समाया है! देवला को झटका सा लगा।

एक-एक कर देवला का ध्यान अपनी बहनों की तरफ़ चला गया, जिन्होंने एक पल भी ऐसे पूर्ण प्यार में खो कर नहीं बिताया था। उसे लगा उसकी माँ का वहम सच ही ठीक था। ये रंग...कितने शक्तिशाली हैं! माँ का ममतामय स्वरूप उसकी आँखों के सामने खिल उठा। कितनी अच्छी है उसकी माँ जिसने उसका रंग बदल दिया यानी जीवन बदल दिया। मृत्यु को जीवन की बहारें दे दीं। मन ही मन वह हर साँस से माँ को पूजने लगी। गुलाबी रंग के प्रति उसके अंतर्मन में घृणा व्याप गयी थी। रंग सच ही भयंकर शक्ति रखते हैं। जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण वह स्वयं थी। भयंकर शक्ति—सच, भयंकर शक्ति किन्हीं क्रूर ग्रहों की तरह। उसे हर

साँस में अपनी बहनों की कराहती आत्माओं की सिसकियाँ सुनायी दे रही थीं। जब से देवला ने होश ज़रा सम्हाला उनकी यही सिसकियाँ सुनती रही थी। कभी दबी-दबी और कभी उभरी-उभरी सी। आँसुओं में भीगी तस्वीर, तड़पती आत्मा, जिसमें झलक जाती थी। अंतर्मन की पीड़ा उनकी आँखों में प्रतिबिंबित होती रहती। सच ही तो कितना बड़ा अभाव था उनके जीवन में। देवला अनजाने ही अपने जीवन के इन कुछ क्षणों का मोल करने लगी, पर वे अमूल्य थे।

वह रह-रह कर कल्पना ही कल्पना में मायके लौट जाती। चारों तरफ़ सिसकती आहों का घुटनभरा धुँआ भरा था। धुँधला सा वातावरण—जाने-पहचाने चेहरे भी धुँधला गये थे, बदल गये थे, विकृत हो गये थे। उनके समस्त परिवार में कोई भी लड़की कभी सुखी न हो पायी थी। एक अभिशाप-सा घेरे था। सब अनजान बने उसकी विवश लपेट में घिर जाते—टूट जाते। बहनें, दुख की कालिमा में परछाइयों-सी। किसी की सास से न बनी, किसी को पति का दुलार न मिला, किसी की सूनी गोद, किसी की सौत और किसी के घर धन का अभाव, क्लेशों का जमघट, साधनहीन जीवन! बिना डाँड़ के बहती नौका भँवरों की गहराइयों में घिर कर चकनाचूर हो गयी थी। देवला ने घबरा कर वास्तविकता में लौटते हुए अपनी तरफ़ नज़र दौड़ायी। अहा! हर तरफ़ पूर्णता ही पूर्णता थी। रवींद्र की प्यासी आँखें उसे दूर से चूम रही थीं।

उसके ससुर लखपती थे। इकलौते पुत्र होने के कारण वह भी इकलौती बहू थी। पति लायक और सफल अफ़सर था। फिर यह प्यार...एक अमर दौलत...जो समेटे न सिमटती थी। उसे लगा, वह इतना सब पा कर कहीं पागल न हो जाय। जीवन में अति अभीष्ट नहीं है शायद! वह न जाने क्यों काँप गयी। इतनी ज़ोर से काँपी कि रवींद्र का ध्यान भी आकृष्ट हुए बिना न रहा।

"क्या ठंड लग रही है?"

"नहीं तो!"

"किसी की याद आ रही है क्या?"—थोड़ा सा व्यंग्य था।

"आपके होते, मुझे किसकी याद आने लगी।"

"तुम तो इतना गहरे खो गयी थीं कि मुझे लगा तुम शायद कभी न लौटोगी।"

"नहीं तो...मैं तो यूँ ही बस...यूँ ही अपने पुराने घर की तरफ़ लौट गयी थी।"

रवींद्र ने अनजाने ही एक लंबी सी साँस खींच ली।

हवा में हल्की-हल्की खुमारी भर गयी थी। रात के दो बज चले थे, पर नींद पास न थी। खिड़की से नीला आसमान और उस नीले आसमान में बहुत उजला चाँद दिखायी दे रहा था। और नीचे उस आसमान से भी अधिक नीले अंतरंग में रवींद्र और देवला एक दूसरे के लिए आमने-सामने उस चाँद से अधिक उज्वल और शांतिप्रद थे। रवींद्र फिर मस्ती में झूम-झूम कर गुनगुनाने लगा और देवला को खींचता सा पलंग की तरफ़ बढ़ गया। उसे पलंग पर बिठा दिया और स्वयं झुक कर पैरों में बैठ गया...मौन आराधक-सा। फिर धीरे से बोला, "मुझे निहार लेने दो, जी भर कर तुम्हारी इस पावन मूर्ति को अपने हृदय में उतार लेना चाहता हूँ।" वह उसके पैर सहलाता रहा और देवला का रोम-रोम सिहरता रहा।

फिर क्या हुआ . . .एक झटके से प्रगाढ़ आलिंगन . . .चुंबन . . .यह जीवन का प्रथम पुरुष-स्पर्श था। गुलाबी रंग के खिले फूल से चेहरे पर उदासी की कालिमा पुत गयी। यह सब क्या और क्यों हुआ ! वह कुछ समझ न सकी। अंतर्मन में ग्लानि का स्रोत बहने लगा। देह काँप उठी. . .सारा शरीर पसीने-पसीने हो गया . . .उसे लगा यह सब वह सहन न कर पायेगी. . . कभी सह न पायेगी। उसका चीखने-चिल्लाने को मन करने लगा . . .वह बेहोशी में डूबती जा रही थी. . .चिल्लाती भी तो कैसे ? सहती भी तो कैसे ? रोम-रोम रो उठा था—दम घुट चला था। वह बेक़ाबू सी चिल्ला उठी। रवींद्र काँपा; चौंका और बंधन ढीले हो गये। उसे क्या हो गया था, वह कुछ समझ ही न सकी। स्वयं ही भौंचक्की सी हैरान थी। जानना चाह कर भी जान नहीं पा रही थी। चारों तरफ़ अभावों की अपूर्णता कराह उठी। वह रोती ही चली जा रही थी। रवींद्र तो हाँफते-हाँफते हारा सा सो गया पर देवला की आँखों में नींद न थी। भयंकर सपनों में जागी सी लेटी रही। सपना था या वास्तविकता, रात भर इसी का निर्णय करती रही।

इसी तरह न जाने उसे क्या होता। वह सदा उनके स्पर्श से दूर रहना चाहती। उसे सदा यूँ लगता जैसे रवींद्र ने उसे पंक में गिरा दिया हो। उसकी दलदल में फँसी वह कराहती रहती। कभी-कभी दोनों पास-पास मौन लेटे रहते। एक दूसरे के गहरे विचारों में डूब कर क्यों और कैसे का उत्तर सा पाते पर जीवन एक बड़ा-सा 'क्यों' बन कर छा गया था। पर कभी-कभी फिर वही आक्रमण होता, जीवन के अभावों को शून्यों को भरने के हेतु. . .स्पर्श होते ही देवला चिल्ला उठती. . .पागलों की तरह नज़रें पथरा जातीं। रवींद्र के मन में एक भयंकर संदेह ने घर बना लिया था। जो अंदर ही अंदर उसे खोखला कर रहा था। उसका यह भ्रम धीरे-धीरे निश्चय में, विश्वास में बदल गया था।

वह अपने को सम्हालने की लाख चेष्टा करती, पर कभी भी सम्हाल न पाती। एक दिन उनके चुंबन के बाद उसे अपना मुँह बार-बार पोंछते और मुँह धोते देख वह पूछ बैठा, "क्या हुआ है ?"

"जी. . .कुछ नहीं।" कहने को तो वह कह गयी पर, रोम-रोम घृणा से काँप उठा। यह सब उसे अच्छा न लगता था। वैसे जब वह घंटों उसके पास बैठा रहता उसे सुख मिलता पर अधिक निकट का स्पर्श होते ही समस्त शरीर पर कीड़ियाँ सरकने लगतीं। पागल हो जाती . . कोढ़-सा फूट पड़ता। वह खुजलाती जाती और साथ ही और तड़पती। यह खुजली, यह जलन . . एक भयंकर यातना बन चली थी। वह फिर हर क्षण यह पूछता रहा, "क्या किसी और से प्यार करती हो ?" वह क्या उत्तर देती ! दे भी देती तो विश्वास कौन करता ! वह फिर कहता, "तुम चाहो तो मैं सारे समाज का सामना करने को तैयार हूँ. . .तुम्हारा उसी से मिलन करवा दूँगा। बस, एक बार हाँ कह कर अपने मन की उलझन स्पष्ट कर दो।" देवला बेसहारा सी आधारहीन सी फिर रो देती। रोने लगती तो बस रोती ही चली जाती। वह हार कर, थक कर निराश-सा उठ जाता, पर देवला इस व्यथा के दंशक की पीड़ा घंटों अनुभव करती रहती।

रवींद्र को विश्वास हो गया था और देवला चाह कर भी अपनी सफ़ाई में एक शब्द भी

बोल न पायी थी। मौन सह गयी. . .मौन ही रह गयी। उसका क्वाँरापन रोता रहा। उसे न जाने क्यों लगता रहता वह भ्रष्ट हो गयी है। एक कलंकिनी हो गयी है। दिन भर मुझे याद है वह नहाती रहती। घंटों नल के नीचे बैठी अपने शरीर को रगड़ती रहती। एक दिन झाँवें से रगड़ते-रगड़ते खून निकल आया। तो उसे ऐसा लगा मानो उसका समस्त शरीर सड़ गया हो, मवाद भर गया हो। उस पीड़ा के स्मरण मात्र से वह और नहाने लगी। खून थम गया और वह थोड़ी स्वस्थ हो गयी। द्वार पर बार-बार दस्तक होती पर वह तो नहाये ही जा रही थी। फिर से अपने कुंवारेपन को पाने के लिए। उसके जीवन की झंकार इस गंदगी की दुर्गंध के नीचे दब गयी थी। दबी हुई कराहती सी पगली. . .देवला घर में सहमी सी घूमती किसी को न भाती।

फिर वही हुआ, जो होना था। वह भी अपनी बहनों की लाइन में जा लगी। विवाह-विच्छेद हुआ; माँ-बाप ने कलंकिनी जान कर शरण न दी। सास-ससुर की तो भला लगती ही क्या थी! किसी ने भी उसे सहारा न दिया। उसका क्वाँरापन भी साथ छोड़ गया था। वह सच ही इस पाप की छाया में डूब कर कलंकिनी हो गयी थी। चाँद-सा कलंक न छूटेगा। समस्त शरीर में वासना के क्षणिक स्पर्श का कोढ़ समा गया था। सब दूर-दूर भागते।

घर से बेघर हो वह छात्रावास लौट गयी, पर वहाँ से भी निकाल दी गयी, क्योंकि उसके साथ-साथ अनजाने कलंक की कहानियाँ भयंकर रूप से जुड़ गयी थीं। उसके पहुँचने से पूर्व ही वे पहुँच जातीं और वातावरण दुर्गंधमय हो जाता. . .स्वागत के स्थान पर पाती अपमान की ठोकरें। फिर अलग किसी मुहल्ले में कमरा ले, उसने काम करने की सोची। पर मकान-मालिक ने उसे हर समय नहाते और शरीर को कुरेदते देखा; रात को चिल्ला-चिल्ला कर भागते देखा, कपड़े उतार-उतार कर फेंकते देखा तो मानसिक चिकित्सालय में खबर कर दी। उसे डर था कहीं उसकी क्वाँरी लड़कियों पर बुरा असर न पड़ जाय। देवला का क्वाँरापन लुट कर एक कलंक बन गया था। दुश्छाया बन गया था। प्रेत की तरह उसे देखते ही सब दूर से ही भागने लगते। यह क्यों हुआ, वह समझ न सकी।

अस्तपाल में काफ़ी समय से इलाज हो रहा है। उसकी दशा आगे से काफ़ी सुधर गयी है पर उसके विचारों की जटिलता में कोई अंतर दिखायी नहीं देता। वह नहाती नहीं. . नोचती भी नहीं, खँरोचती भी नहीं। पर उसके मस्तिष्क और मन में चलने वाले विवाह की वासना के कीड़े आज भी सजीव हैं। उसका खून पी-पी कर और पल गये हैं। क्यों? इसका कोई उत्तर आज तक उसके पास नहीं है। यह पहेली पहेली ही बनी रही। अब वह एक दफ़्तर में काम करने लगी है, पर कभी-कभी उसे लगता है किसी ने पीछे से आ कर उस पर आक्रमण कर दिया है। वह पिस रही है—दम घुट रहा है—कराह रही है—पर कोई सुनता नहीं। विष उसके समस्त शरीर में समाता चला जाता है। वह काँप-काँप कर फिर-फिर सम्हलती है—खड़ी होती है। अपने को सम्हालती है—समेटती है और दफ़्तर भागती सी बाहर आ जाती है!

रात को कभी-कभी जाग कर बैठ जाती है—अक्सर ऐसा ही होता है। उस अँधेरे के मौन में किसी की सिसकियाँ सुनायी देती हैं। वह कान बंद कर लेती है, पर वह और भी तीव्रता

से सुनायी देती है? फिर अपने आपसे प्रश्न करती है, 'क्या वह विवाहिता है?' इस शब्द के स्मरण मात्र से ही उसके रोम-रोम में, रग-रग में कीड़े भागने लगते हैं—एक होड़ सी मच जाती है। मारे बेचैनी के वहां तड़प उठती है—पर वह चिल्लाती नहीं—मौन रह जाती है—कहीं दफ़्तर वाले भी उसका चिल्लाना सुन कर उसे निकाल न दें—इससे आगे उसके शून्य विचार रुक जाते हैं।

दफ़्तर की मेज़ पर बैठी है। काम में व्यस्त है। हम दोनों में दूर से ही एक हलकी मुस्कराहट तैरती सी स्पर्श कर लौट जाती है। पर न जाने उसी क्षण कौन धीरे से आ कर उसके कान में कह जाता है—वह विवाहिता है आस-पास देखती है—कोई भी तो नहीं—क्या उसका अपना शरीर ही पराया है—किसी और का है! क्या वह बिक चुकी है—अपने ही मन-मस्तिष्क-शरीर पर उसका अधिकार शेष नहीं। कौन है जो बार-बार उसके कानों में धीरे से कह जाता है—'तू कलंकिनी है'। पर उसकी पवित्र आत्मा तो इस कलंक को स्वीकार नहीं करती। उसका मन उखड़ जाता है—काम में नहीं, कलंक में डूब जाता है। चारों तरफ़ एक ही शब्द गूँज रहा है—कलंकिनी—कलंकिनी—कलंकिनी—पर क्यों? कौन उत्तर दे उसे! कानों पर हाथ रख मेज़ पर सिर पटक देती है। मैं भाग कर उसके पास जाती हूँ—पर सब व्यर्थ। वह अब तक भी यह समझ नहीं पायी; इस कलंक को मिटाये कैसे? सृष्टि के कण-कण में बिखरे इस गुलाबी रंग को मिटाये कैसे?

बी० एफ़०, १५-सी सेक्शन,
चंडीगढ़।

केदारनाथ लाभ

आधुनिक मैथिली साहित्य

इस वर्ष साहित्य अकादमी ने भारत की सोलहवीं भाषा के रूप में मैथिली को मान्यता प्रदान कर इसके स्वतंत्र अस्तित्व पर अपनी स्वीकृति की अंतिम मुहर लगा दी है। बोधगम्यता एवं शब्द-साम्य की दृष्टि से इसे हिंदी की उपभाषा या बोली भले कह लें पर भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इसकी स्वतंत्र सत्ता से इंकार नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि हिंदीभाषी प्रदेशों की जन-भाषाओं में जहाँ आज साहित्य-सर्जन लुप्त सा हो गया है, वहाँ दो करोड़ व्यक्तियों द्वारा भारत के पूर्वांचल (मिथिला) एवं नेपाल की तराई में बोली जाने वाली इस भाषा में आज साहित्य की सभी विधाओं का सर्जन अत्यंत सशक्त रूप से हो रहा है। नेपाल की द्वितीय राष्ट्रभाषा के रूप में भी मैथिली को ही मान्यता मिली है; हिंदी को नहीं। पद्य-गद्य और नाटक इन सभी विधाओं का उद्भव इस साहित्य को भारत की तमाम प्राचीनतम भाषाओं की समकक्षता प्रदान करता है।

मैथिली साहित्य का आधुनिक काल उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण से आरंभ होता है जब मैथिली काव्य-साहित्य में नवीन एवं ऐतिहासिक मोड़ ले कर चंदा झा का आविर्भाव होता है। यह वह काल है जब हिंदी साहित्य रीतिकाल की केंचुल छोड़ कर तथा मुक्तकों के मोह का परित्याग कर द्विवेदी जी के नेतृत्व में इतिवृत्तात्मक काव्य-सर्जन से चमत्कृत हो रहा था। जब जगन्नाथदास 'रत्नाकर' 'उद्धव-शतक' के प्रणयन में लीन थे उसी समय कवीश्वर चंदा झा मिथिला रामायण (१८७८ ई०) जैसे महाकाव्य का सर्जन कर रहे थे।

चंदा झा ने मैथिली काव्यधारा को विद्यापति की परंपरागत रीतिबद्धता एवं श्रृंगार तथा भक्ति के युगल कूलों की सीमा से खींच कर उसे युग के परिवेश का परिधान पहना दिया तथा उसे नये शिल्प-सौंदर्य से सँवार दिया। यद्यपि चंदा झा स्वयं रीतिबद्धता एवं भक्ति-भावना से सर्वथा मुक्त नहीं हो सके तथा गीति-मोह से भी वे अपने को पृथक नहीं कर सके तथापि भाषा को जन-भाषा के निकट लाने में उन्होंने अप्रतिम योग दिया। भाव की दृष्टि से भी वे नवयुग

की भावनाओं के अधिक निकट आये। चंदा झा मैथिली के प्रथम क्रांतिकारी कवि हैं, जिन्होंने उसे मुक्तकों के मानसरोवर से उठा कर प्रबंधकाव्य के कैलासकूट पर प्रतिष्ठित कर दिया।

मैथिली काव्य के कमल-कुंज को आधुनिकता की जिस अरुणाभा से कवीश्वर चंदा झा ने मुकुलित किया उसे अपनी नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के प्रखर प्रकाश एवं साधना के सौरभ से अभिसिंचित करने वाले कवि हुए भुवनेश्वर सिंह 'भुवन'। इनके समय (१९२८ ई०) तक राष्ट्रीय चेतना की लहर देश में अँगड़ाइयाँ लेने लगी थीं। महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय रंगमंच पर स्वातंत्र्यांदोलन की बागडोर थाम ली थी। पराधीनता की शृंखला टूटने के लिए कसमसा रही थी। स्वभावतः ही प्रगतिवादी चेतना से आलोड़ित 'भुवन' जी ने मैथिली काव्य में क्रांति का पांचजन्य फूँकना प्रारंभ कर दिया। समाज के दलित, प्रताड़ित और पीड़ित वर्ग के लिए सहज संवेदना का स्वर ले कर इन्होंने मैथिली काव्य में पदार्पण किया था। ये हिंदी के भी प्रखर कवि थे तथा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के अत्यंत निकट थे। स्वभावतः ही मैथिली कविता को गीतों की गुहा से निकाल कर जन-जीवन के निकट के प्रतीकों, बिंबों और शब्दावलियों से मैथिली-काव्य को नवीन छंदों में ढालने का इन्होंने सफल प्रयास किया। सामाजिक पीड़ा को स्वानुभूति एवं संवेदना के जल से सिक्त कर इन्होंने 'युगवाणी' को मुखरित करते हुए कहा—

हम करेंगे प्रलय, हम करेंगे प्रलय !
हम रहने देंगे नहीं जगत में क्षण भर भी विषकुंभी भय !
हम हैं महान, हैं गुण-निधान, उर में चिर जाग्रत स्वाभिमान !
मुख में ज्वालामय प्रगति-गान, गति रोक नहीं सकता कृपाण !
है प्रकृति स्वयं सहचरी हमारी बलयुक्ता, हम अभय, अजय !

'भुवन' जी ने मैथिली-काव्य का द्वार उन्मुक्त कर दिया था। अब काव्य की समस्त रुढ़ियाँ टूट कर ढहने लगीं। यद्यपि पारंपरिक प्रबंध-काव्यों का प्रणयन भी इस काल में होता रहा तथा मुंशी रघुनंदन दास के 'सुभद्रा-हरण' एवं बदरीनाथ झा के 'एकावली परिणय' जैसे महा-काव्य सर्जित होते रहे तथापि 'यात्री' (जो हिंदी में 'नागार्जुन' नाम से लिखते हैं) एवं 'सुमन' जी ने आ कर मैथिली काव्य को अत्याधुनिक शिल्प एवं वस्तु-सौष्ठव से सजा कर उसे भारत की किसी भी भाषा के आधुनिक काव्य के समकक्ष अधिष्ठित कर दिया।

'यात्री' (नागार्जुन) के काव्य का आयाम बड़ा ही व्यापक है। अपनी हिंदी कविताओं की भाँति ही उन्होंने मैथिली कविताओं में भी भाव और शिल्प, दोनों क्षेत्रों में क्रांति की है। छंदों के बंधन को तोड़ कर तत्सम और देशज शब्दों के संमिश्रण से लयात्मक काव्य-सर्जन करना 'यात्री' जी की निजी विशेषता है। व्यंग्य उनके काव्य का प्राण है। उनकी 'आन्हर जिनगी' में नव्य प्रयोग के साथ संक्रांतिकालीन युग का मार्मिक चित्र है। 'आधुनिक राधा' में आधुनिकाओं पर उग्र व्यंग्य है। कविता देश-प्रेम की हो अथवा प्रकृति-चित्र की, 'यात्री' अपनी सहजता और शैलीगत विशिष्टता के कारण सहज ही विमोहक हो उठते हैं। मिथिला के लिए हृदय में हाहाकार भर कर वे कहते हैं—

क्यों आयेगी बाढ़?
पृथ्वी क्यों बनेगी व्यर्थ ही एकार्णवा?
क्यों बहेगी नदी कोई बनी अति उद्दाम?
क्यों रहेगा बना जनपद सदा बज्र देहात?
क्यों लगेगा नहीं सबको नगर का वातास?
क्यों रहेगा पड़ा पिछड़ा भव्य मिथिला देश?
पकेगा परदेश में ही क्यों किसी का कहो श्यामल केश?

('हम थी क्षुब्ध' से)

सुरेंद्र झा 'सुमन' की कविताओं में प्रौढ़ कल्पना का विलास एवं शब्दों का विलक्षण चमत्कार सर्वत्र परिलक्षित होता है। 'साओन-भादव' कविता में उपर्युक्त दोनों ही तथ्य अपनी पूर्णता में संगुंफित हुए हैं।

मैथिली में गीति-काव्य की जो परंपरा विद्यापति ने स्थापित की वह अबाध गति से बहती रही और इसका गीति-कोष बड़ा ही संपन्न है। आधुनिक गीतिकारों में जीवनाथ झा, आरसीप्रसाद सिंह, ईशनाथ झा, मधुप, अमर, किरण, दीपक, श्रीश, मायानंद मिश्र, केदारनाथ लाभ, गोपेश एवं सोमदेव आदि प्रमुख हैं। इन सबके गीतों में कल्पना की उदात्तता, हृदय की प्रणयाकुलता एवं कोमल-कांत पदावलियों के साथ ही प्राणों की द्रवणशीलता सहज लक्षित होती है।

मैथिली काव्य में प्रयोग-तत्व काफ़ी पीछे से आया है। यह एक विलक्षण बात है कि मैथिली के अनेक लब्धप्रतिष्ठ कवि हिंदी के भी विख्यात कवि हैं। चंदा झा, भुवन, यात्री, राजकमल चौधरी, मधुकर गंगाधर, केदारनाथ लाभ, सोमदेव आदि हिंदी और मैथिली दोनों ही भाषाओं के समान रूप से आदृत कवि हैं। अतः हिंदी के माध्यम से ही मैथिली में भी प्रयोगवाद और नयी कविता के तत्व आ जुड़े हैं। मायानंद, सोमदेव और राजकमल चौधरी इस पक्ष के प्रतिनिधि कवि हैं। सोमदेव आधुनिक मनुष्य की मशीन से तुलना करते हैं और मानव-जीवन की वर्तमान वेदना को अंकित करते हुए उसकी महत्ता में आस्था प्रकट करते हैं—

यह जीवन सचमुच है मशीन
दो नालीदार भाथी सदा
चूल्हे के मुँह को गरम करती है

× × ×

सर्पिणी कुंडली मार रही है निःशब्द चारों क्षण जब-तब
आप देखते हैं क्यों सदा वायुभारमापक?

रक्तचाप का मापक?
ताप का परिदर्शक ?

हम मनुष्य हैं, नहीं मशीन हैं!
खंड-खंड हो सकते हैं मशीन के जुड़े हुए सब पुर्जे
पर मशीन का पुर्जा-पुर्जा कैसे अलग हो?
उत्तर दो जरा हे प्रतिमे!
प्लास्टिक-निर्मित!!

(मनुक्ख, मिशीन आ जिनगी)

मैथिली का कथा-साहित्य अन्य भारतीय भाषाओं के कथा-साहित्य की भाँति बहुत प्राचीन नहीं है। अंग्रेज़ी शासन के डेढ़ सौ वर्षों की अवधि में भी मिथिला अंग्रेज़ी शासन से अल्प-प्रभावित हुई। उसकी पुरातन सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टिभंगी में कोई विशेष परिवर्तन या विशेष संस्कार-परिष्कार नहीं हुआ। और कथा-साहित्य एक प्रकार से भारत में अंग्रेज़ी साहित्य की ही देन है। स्वभावतः मैथिली में मौलिक उपन्यास और गल्प का प्रणयन बहुत विलंब से हुआ।

आधुनिक मैथिली के सर्वप्रथम यशस्वी मौलिक उपन्यासकार हैं श्री हरिमोहन झा। इनके दो उपन्यास 'कन्यादान' (१९३०-३३) तथा 'द्विरागमन' (१९४३) न केवल मिथिला में लोकप्रिय हुए बल्कि इन्हें पढ़ने के लिए अनेक मैथिलीतर भाषियों ने भी मैथिली सीखी। इन उपन्यासों ने मिथिला जनपद की सामाजिक कुप्रथाओं की बखिया उधेड़ दी। विलक्षण चरित्रांकन एवं यथार्थ, कथोपकथन की सहजता, पात्रानुकूल भाषा का संचयन एवं कथानक की मार्मिकता ने इन उपन्यासों को अद्भुत प्रियता प्रदान की।

झा जी के पश्चात हिंदी के दूसरे प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं श्री 'यात्री'। इनके 'पारो', 'बलचनमा' एवं 'नवतुरिया' हिंदी में अनूदित हो कर देश-प्रसिद्ध हो चुके हैं। मिथिला के निम्न-मध्यम वर्ग की स्थिति का जैसा सम्यक एवं सशक्त वर्णन 'यात्री' जी ने अपने उपन्यासों में किया है उससे मैथिली ही नहीं, हिंदी उपन्यास-साहित्य भी समृद्ध हुआ है। पारदर्शी एवं रोचक शैली में जन-जीवन एवं जन-वृत्ति की झाँकी प्रस्तुत करने वाले ये उपन्यास मैथिली साहित्य के अनमोल रत्न हैं।

अन्य उपन्यासों में उपेंद्रनाथ झा व्यास का 'कुमार' एवं योगानंद झा का 'भलमानुस', शैलेंद्र मोहन झा का 'मधुश्रावणी' एवं चंद्रनाथ मिश्र का 'विदागरी' उपन्यास प्रमुख हैं जो कथानक की समान परिधि पर चक्कर काटते दीख पड़ते हैं। ये उपन्यास कमोबेश विवाह की समस्याओं को ले कर उलझते हैं और सामाजिक वैषम्य एवं कुरीतियों का यथार्थ और प्रखर चित्र प्रस्तुत करते हैं। इन उपन्यासों में 'कुमार' का एक विशिष्ट स्थान है। इसमें कथानक की रोचकता के साथ कमल, विमल और कुमुदिनी के चरित्र का सूक्ष्म रूपायन हुआ है। प्रणय की तीव्रानुभूति की अभिव्यंजना में लेखक को सफलता मिली है एवं ग्राम्य जीवन, मिथिला के नैसर्गिक परिवेश तथा स्थानीय रंजकता का उभार भी इसमें सहज उपलब्ध है।

स्वातंत्र्योत्तर मैथिली उपन्यासों में डॉ० ब्रजकिशोर वर्मा का 'विद्यापति' उपन्यास मैथिली साहित्य को महार्घता प्रदान करने वाला है। यह एक चरितप्रधान ऐतिहासिक उपन्यास

है जिसमें विद्यापतिकालीन (१४ वीं शताब्दी) मिथिला के जन-जीवन, समाज, संस्कृति, परंपराओं, रूढ़ियों एवं संघर्षपूर्ण परिवेशों का बड़ा ही कलात्मक नियोजन डॉ० वर्मा ने कर दिया है। इस दृष्टि से यह मैथिली के आधुनिक उपन्यासों में सर्वप्रमुख है। इसकी तुलना हम डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास से कई रूपों में कर सकते हैं।

मायानंद मिश्र सामाजिक धरातल पर ऐंद्रिकताग्रस्त दृष्टि से मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों का सर्जन करते हैं। उनका 'बिहारि, पात ओ पाथर' एक क्षीण तथा दुर्बल कथानक को ले कर चलता है। पर पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में मायानंद अधिक उलझ कर भी उसे एक कलात्मक सौष्ठव प्रदान कर देते हैं। 'मिथिला-मिहिर' (पटना से प्रकाशित साप्ताहिक) में धारावाहिक रूप से सद्यः प्रकाशित उनके नवीन लघु उपन्यास 'खोंता आ चिड़' में भी जहाँ आंचलिकता सहज लब्ध है, कथोपकथन में ग्राम्य भाषा का निरावृत प्रयोग तथा निम्न वर्ग में उत्पन्न नवचेतना का जाग्रत वर्णन है, वहीं कुंठाग्रस्त यौन-भावना एवं कामुकतापूर्ण परिवेश का चित्रण भी है। उपन्यासकार कथानक का निर्वाह करने में भी असफल रहा है। लगता है यौन-विकृति ने उपन्यासकार को उस पंक-पारावार में धर दिया है जहाँ से किनारे आने के लिए वह छटपटा उठा हो!

प्रध्यापक (प्रोफ़ेसर) धीरेंद्र का 'भोरुकवा' उपन्यास 'मिथिला-मिहिर' में मार्च, १९६४ ई० में धारावाहिक रूप से निकला था। इसमें एक ओर मिथिला के गाँवों में जीवन-यापन करने वाले निम्न वर्ग के दांपत्य जीवन तथा ज़मींदार वर्ग के अत्याचारों-अनाचारों का जीवंत वर्णन है तो दूसरी ओर सामाजिक वैषम्य को विनष्ट कर नये सामाजिक धरातल के निर्माणार्थ चेतना का नवीन आलोकपूर्ण स्वर भी प्रस्तुत है। 'भोरुकवा'––भोर का तारा––उसी आस्था, विश्वास एवं नव जागृति का ज्वलंत प्रतीक है। प्रा० धीरेंद्र के इस उपन्यास का कथानक यद्यपि घिसा-पिटा एवं प्रबुद्ध पाठकों की दृष्टि के समक्ष गतानुगतिक है तथापि इसमें थेथरी, मुसहरबा और राधे आदि पात्रों को जीवंत रूप में प्रस्तुत किया गया है एवं कथोपकथन में स्वाभाविकता तथा रोचकता का निर्वाह किया गया है। भाषा की सजीवता एवं आंचलिकता ही इस उपन्यास के प्राण हैं अन्यथा शिल्प का कोई विशिष्ट चमत्कार इसमें उपलब्ध नहीं होता।

मैथिली का गल्प-साहित्य आधुनिक काल में दिनानुदिन विकसित एवं समृद्ध होता जा रहा है। वस्तु की विविधता तथा विभिन्न शिल्प-प्रयोगों की दृष्टि से भी यह साहित्य संस्तुत्य है। नयी पीढ़ी के गल्पकारों में मुख्य रूप से हास्य-विनोद एवं व्यंग्य को आधार बना कर सामाजिक कुरीतियों के मर्म पर चोट करने वाले कथाकारों में श्री हरिमोहन झा एवं श्री चंद्रनाथ मिश्र 'अमर' सर्वप्रमुख हैं। झा की कथाओं का संग्रह 'प्रणम्य देवता' एवं 'रंगशाला' में हुआ है। इनकी कथाएँ अब भी कथोपकथन या नाटकीय शैली में ही होती हैं फिर भी कौतूहल एवं रोचकता का अभाव इनमें नहीं रहता। व्यंग्य के क्रम में कहीं-कहीं शिष्टता का अतिक्रमण इनमें अवश्य लक्षित होता है।

वस्तु की विविधता एवं शिल्प-संपन्नता की दृष्टि से सुधांशु शेखर चौधरी 'शेखर' की 'फूल दीदी', 'एक सिंघारा एक चाय' आदि विलक्षण कथाएँ हैं।

अत्याधुनिक कथाकारों में डॉ० व्रजकिशोर वर्मा, डॉ० शैलेंद्र मोहन झा, प्रा० राधाकृष्ण चौधरी, ललित, राजकमल चौधरी, रामकिसुन झा 'किसुन', प्रा० मायानंद मिश्र, सोमदेव, गंगेश गुंजन, प्रा० धीरेंद्र, साकेतानंद तथा गौरी मिश्र के नाम उल्लेख्य हैं। इनमें समाप्तिहीन शिल्प तथा सामाजिक या पारिवारिक परिवेश की आधारशिला पर कथा गढ़ने वालों में गंगेश गुंजन, राजकमल चौधरी तथा सोमदेव आदि प्रमुख हैं। राजकमल चौधरी हिंदी के भी प्रख्यात कथाकार हैं। इनकी मैथिली कथा 'सुरमा सगुन विचारै ना' समाप्तिविहीनता की शैली में लिखी होने के कारण काफ़ी विवादास्पद रही है।

यदि किसुन और मायानंद नागरिक संस्कृति से उत्पन्न मध्यवित्त परिवार की जटिल स्थितियों का आवेशपूर्ण चित्र प्रस्तुत करने में बड़े ही कुशल हैं तो गौरी मिश्र नारी-मनोविज्ञान की पैनी परख प्रस्तुत कर गाँवों की निम्न और मध्यवित्त वर्गों की नारियों की जीवन-दशा को बड़े भव्य रूप में प्रस्तुत करने में पटु हैं।

प्रा० शैलेंद्र मोहन झा के गल्प रोमांटिक होते हैं। ललित शब्द-योजना एवं शुष्क वाक्य-विन्यास के माध्यम से ये नर-नारी के दांपत्य जीवन की विभिन्न स्थितियों के मार्मिक चित्र उगाते चलते हैं। इस दृष्टि से इनकी 'भरत-वाक्य' कथा विलक्षण है। पर औत्सुक्य एवं चित्रमत्ता रहते हुए भी इनकी कथाओं की समाप्ति पाठकों के मन में कोई तीव्र प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न करती। कथाकार पाठक की बुद्धि पर आस्था नहीं रख पाता एवं उसे कथांत के पश्चात भी कुछ सोचने-समझने का अवसर नहीं प्रदान करता। फिर भी, पात्रों के अंतर्द्वंद्व एवं उनकी मनोवैज्ञानिक गहनता की झाँकी प्रस्तुत करने में झा सदैव सफल रहे हैं।

प्रा० मायानंद मिश्र के कथा-संग्रह 'आगि, मोम ओ पाथर' में मानवीय संवेदना के साथ चारित्रिक औदात्य का मनोरम सामंजस्य है। नागरिक एवं ग्रामीण संस्कृतियों की सक्रांतिकालीन टकराहट से उत्पन्न विषम स्थितियों एवं मध्यवित्त परिवार के नागरिक जीवन की समस्याओं के चित्रण में इनका मन खूब रमा है।

'एक खीरा : तीन फाँक' नामक कथा-संग्रह में प्रा० रामदेव झा ने दांपत्य जीवन के द्वंद्व, खीझ एवं रुझान आदि का नवीन कथा-शिल्प के माध्यम से चित्र खींचा है।

मैथिली का निबंध-साहित्य भी चिंतन की मौलिकता, भावों की तरलता, विचारों की व्यापकता एवं अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता तथा सरलता की दृष्टि से नित्य संवर्धनशील हो रहा है। साहित्य-समीक्षात्मक निबंध-लेखकों में प्रा० रमानाथ झा, प्रा० जयदेव मिश्र, नरेंद्रनाथ दास, प्रा० राधाकृष्ण चौधरी, प्रा० परमानंद झा, प्रा० भक्तिनाथ सिंह ठाकुर, प्रा० आनंद मिश्र, डॉ० जयकांत मिश्र, डॉ० ललितेश्वर झा, प्रा० दामोदर झा, प्रा० बुद्धिधारी झा, प्रा० दुर्गानाथ झा 'श्रीश' तथा प्रा० मायानंद मिश्र के नाम उल्लेख्य हैं।

हरिमोहन झा हास्य-व्यंग्य प्रधान निबंध लिखने में सिद्धहस्त हैं। उनके ऐसे निबंधों का संग्रह 'खट्टर ककाक तरंग' है जो वार्तालाप की शैली में लिखा गया है। चंद्रनाथ मिश्र 'अमर' आलोचनात्मक और हास्यपूर्ण निबंध दोनों ही समान सफलता से लिख लेते हैं।

डॉ० शैलेंद्रमोहन झा के वैयक्तिक निबंधों का मैथिली निबंध-साहित्य में सर्वथा अनूठा

एवं एकांत स्थान है। 'पथ हेरथि राधा' इनके आठ वैयक्तिक निबंधों का संग्रह है। इनमें 'पुनर्नवा', 'देखल नयन सरूपे', 'ताज-दर्शन' और 'पथ-हेरथि राधा' उत्कृष्ट हैं। वैयक्तिक निबंधों में निबंधकार की जिस निरावृत भावुकता, सहज संवेदनशीलता तथा निराभरण कल्पना-वृत्ति की अपेक्षा होती है वे सब शैलेंद्र जी में हैं किंतु ऐसे निबंधों के लिए हृदय की जिस मुक्तता की अपेक्षा होती है उसका अभाव इनमें परिलक्षित होता है। भावुकता कहीं-कहीं विचार-भार से दबी-दबी लगती है तथा कल्पना के कुसुम कहीं-कहीं प्रज्ञा की प्रखर धूप से कुम्हलाये से लगते हैं। किंतु शैली का लालित्य इन निबंधों को काव्य की सीमा-रेखा का संस्पर्श भी करा देता है।

म० म० डॉ० उमेश मिश्र के निबंध सुचिंतित एवं गहन-गंभीर होते हैं तथा पं० बलदेव मिश्र के निबंधों में लघुता एवं विचारशीलता के दर्शन होते हैं। राजकमल चौधरी के निबंधों में अध्ययनशीलता, अंतर्दृष्टि एवं आधुनिक ज्ञान के लिए आग्रह सर्वत्र लक्षित होते हैं।

सामाजिक-राजनीतिक घटना-चक्र एवं वर्तमान देश-दशा की भाव-भूमि पर निबंध लिखने वालों में श्री कुलानंद 'नंदन' अग्रगण्य हैं। इनके निबंधों में इनके ज्ञान के विस्तृत आयाम का परिचय तो मिलता ही है साथ ही मिथिला और संपूर्ण भारत के लिए एक सहज ममत्व तथा संवेदनशीलता की झलक भी दीख पड़ती है। इनकी दृष्टि क्षेत्रीय संकीर्णता से सदैव मुक्त और उदार रही है।

समीक्षात्मक ग्रंथ-प्रणयन की दिशा में भी मैथिली में पर्याप्त विकास हो रहा है। पं० शशिनाथ चौधरी प्रणीत 'चंदा झा क रामायण' व्यावहारिक समीक्षा-ग्रंथ है। महाकवि चंदा झा के कृतित्व पर विशद समीक्षा करने वालों में श्री बलदेव मिश्र और डॉ० ललितेश्वर झा प्रमुख हैं। श्री कृष्ण मिश्र ने 'मनबोध', 'कन्यादान समीक्षा' तथा 'मैथिली उपन्यास' नामक महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं। श्री नरेंद्रनाथ दास का 'विद्यापति-काव्यालोक' तथा 'गोविंददास' भी तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति पर प्रणीत उत्कृष्ट एवं प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। श्री कृष्णकांत मिश्र का 'मैथिली साहित्यिक इतिहास' मैथिली साहित्येतिहास का मान्य ग्रंथ है। प्रा० बालगोबिंद झा 'व्यथित' का 'मैथिली साहित्यिक इतिहास' छात्रोपयोगी परिचयात्मक इतिहास है। जयधारी सिंह रचित 'काव्य-मीमांसा' (दो भाग) काव्य-शास्त्र का भारतीय सिद्धांतानुसार विवेचन प्रस्तुत करती है।

इतना होने पर भी यह मानना ही पड़ेगा कि मैथिली का समीक्षा-साहित्य अभी समृद्ध नहीं है। महाकवि विद्यापति पर भी मैथिली में कोई श्रेष्ठ समीक्षा-ग्रंथ नहीं है। साहित्य की विभिन्न विधाओं का परिचय देने वाला तथा आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा-प्रणाली का अभिज्ञान कराने वाला ग्रंथ भी नहीं ही है। मैथिली में साहित्य का कला, जीवन, उपयोगिता, अभिव्यंजना, मनोविज्ञान, इतिहास, प्रभाव आदि के परिप्रेक्ष में अब तक सुनियोजित एवं व्यापक विश्लेषण नहीं हो सका है। विभिन्न कवियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का समीक्षण भी विस्तार से नहीं हो पाया है। सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक समीक्षा-ग्रंथों की पूर्ति में मैथिली के मान्य विद्वानों को अधिक श्रम और समय देना होगा—इसमें संदेह नहीं।

मैथिली में शोध-कार्य बड़ी त्वरा से हो रहा है। डॉ० सुभद्र झा ने 'मैथिली भाषा' पर, डॉ० ललितेश्वर झा ने 'मैथिली काव्य में कृष्ण-भक्ति पर', डॉ० जयकांत मिश्र ने 'मैथिली साहित्य

के इतिहास' पर, डॉ० पूर्णानंद दास ने 'मैथिली शोकगीत' पर, डॉ० शैलेंद्र मोहन झा ने 'आधुनिक मैथिली काव्य' पर तथा डॉ० दुर्गानाथ झा 'श्रीश' ने 'मैथिली प्रबंध-काव्य' पर गंभीर गवेषणात्मक प्रबंध प्रस्तुत किये हैं। इनके अतिरिक्त मैथिली भाषा और साहित्य से संबद्ध विभिन्न विषयों पर अनेक विश्वविद्यालयों में अनुसंधित्सुओं द्वारा शोध-कार्य हो रहे हैं।

इस भाँति विषय-वैविध्य एवं शिल्प-वैविध्य की दृष्टि से मैथिली का आधुनिक साहित्य दिनानुदिन संपन्न से संपन्नतर होता जा रहा है तथा अपनी उज्वल प्राचीनता से गौरवान्वित यह साहित्य आलोकपूर्ण भविष्य के निर्माण में संलग्न है। अभिव्यक्ति-क्षमता से संपुष्ट यह साहित्य आधुनिक भारत के अनेक आंचलिक साहित्यों के समकक्ष तो प्रतिष्ठित है ही, काल के गर्भ में इसकी और भी महान एवं गौरवोज्वल संभावनाएँ छिपी हुई हैं।

—हिंदी विभाग,
राजेंद्र कॉलेज, छपरा (बिहार)।

'यात्री' की दो कविताएँ

●●

अंधी ज़िंदगी

अंधी जिंदगी
लालसा की लाठी से थाहती
बाट-घाट, आँतर-पाँतर को
खुट खुट खुट खुट!
अंधी जिंदगी
चौंधियायी है
खड़ी
युग-संधि की इस चौबट्टी के निकट
सुनती विवेक के कान लगा कर
निंदा-स्तुति!

अंधी जिंदगी
लँगड़ी आशा के कंधे पर हाथ रखे
किधर जाती हो
वह गाती है 'बटगमनी'
तुम चुप क्यों हो
तुम भी धारण कर लो कोई राग !

अंधी जिंदगी
शांति-सुंदरी की नरम अँगुली के स्पर्श से
विहँस रही है
खंड-सफलता की सलच्छा सिहकी ने
उसके गात-गात में
भर दिया है ताज़ा स्पंदन !

आधुनिक राधिका

गौर-गेहुँई कांति
देह लंबी और भव्य सुडौल
मुँह सुघर, मृदु अधर लाले-लाल
'बॉब्ड-हेयर'-खूब-कर्तित कृष्ण-कुंतल जाल
भौंह शाणित खड्ग
मर्मवेधी किसी टकुए-सी
कज्जलित युग चपल लोचन-कोर
अनावृत मुक्तोदरी, आवर्त-दारुण नाभि
रँगी बीसो नखों की सित पीठ
हरित-वसना आजकल की राधिका . . .
देवि स्कूटरवाहिनी !
तुम लौट आओ इस सुसंध्या काल
किसी होटल मध्य, पथ हैं जोहते बाँकेबिहारी लाल !

अनु० : केदारनाथ लाभ

नयी पीढ़ी का विद्रोह

मायानंद मिश्र

हम सब अपनी-अपनी क़ब्र में पड़े हैं।

नाक तक डूब गयी है;
अंग सभी सड़े हैं;
हम सब अपनी-अपनी क़ब्र में पड़े हैं।

हम सब न तो धरती की जोंक को देख सकते हैं
और न उड़ा सकते हैं आकाश के गिद्ध को
और न रावणी छल-छद्म,
न कौरवी लिप्सा
न कर सकते हैं
इडिपस के भ्रम से मुक्त होने की कल्पना
इसीलिए
हम सब अपनी-अपनी क़ब्र में पड़े हैं।
हमारा पिता छल-छद्म,
लिप्सा और भ्रम का बेटा है
(वह सत्य का जनक नहीं हो सकता)
और इसीलिए
हम सब अभी अपनी-अपनी क़ब्र में पड़े हैं।

और ढूंढ़ रहे हैं रास्ता—
पिता के मरने का
और तब पिता की लाठी ले कर क़ब्र से निकलेंगे
कौरव से युद्ध करेंगे
जोंक को थकुचेंगे
गिद्ध को निकाल बाहर करेंगे
किंतु, तब तक
हम सब अपनी-अपनी क़ब्र में सोये हैं।

अनु० : केदारनाथ लाभ,

द्वितीय पुनश्चर्या पाठचक्रम-शिविर

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा की ओर से आयोजित पहला ग्रीष्मावकाश-शिविर १५ मई को गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार में आरंभ हुआ था। इस शिविर में एक मास तक संस्थान के कुछ अध्यापक और देश के विभिन्न भागों से आये हुए ६१ हिंदी शिक्षक विविध प्रकार के शैक्षिक और साहित्यिक कार्यों में संलग्न रहे।

इस शिविर में हिंदीतर भाषा-भाषी ९ राज्यों और उन राज्यों की पाँच स्वैच्छिक संस्थाओं ने अपने यहाँ के ६१ हिंदी शिक्षकों और प्रचारकों को संप्रेषित किया, जिनमें ७ महिलाएँ भी थीं। इन ६१ हिंदी शिक्षकों और प्रचारकों का राज्यवार विवरण प्रस्तुत है: सरकार द्वारा संप्रेषित मैसूर से ४, महाराष्ट्र से २, पांडिचेरी से १, केरल से ७, पश्चिम बंगाल से १, असम से ८, आंध्र से ८, उड़ीसा से २ और त्रिपुरा से ४ व्यक्ति। संस्था द्वारा संप्रेषित महाराष्ट्र से १०, गोआ से १, गुजरात से ८, केरल से ३ और असम से २ व्यक्ति। इस प्रकार कुल ११ राज्यों से लोग आये, जिनमें सरकार द्वारा संप्रेषित व्यक्तियों की संख्या ३७ थी और संस्था द्वारा संप्रेषित महानुभावों की संख्या २४।

हिंदीतर भाषा-भाषी प्रशिक्षित हिंदी शिक्षकों और प्रचारकों को एक स्थान पर एकत्र कर हिंदी के प्रसार से संबंधित विविध समस्याओं का आकलन किया गया; उनके समाधान ढूँढ़े गये। हिंदी शिक्षण की अधुनातन विधियों की जानकारी प्राप्त करने और हिंदी तथा अन्य भाषाओं के साहित्य की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करने की सुविधा प्रदान करने के अपने उद्देश्य में यह शिविर काफ़ी सफलता प्राप्त कर सका।

शिविर का शुभारंभ दिनांक १६-५-६५ को केंद्रीय उपशिक्षा-मंत्री श्री भक्तदर्शन ने किया। शिविर की आयोजना पर संस्थान को बधाई देते हुए उन्होंने कहा कि देश के हिंदीतर भाषा-भाषी राज्यों में ऐसे अनेक हिंदी शिक्षक और प्रचारक हैं, जिनको अपने जीवन-काल में एक बार भी हिंदी प्रदेश में कुछ समय तक रह कर और यहाँ की हिंदी के जीवंत रूप से परिचय प्राप्त करने का अवसर नहीं मिल पाता। इस प्रकार की कमी को दूर करने के लिए ऐसे शिविरों के आयोजन के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं दिखायी देता। श्री भक्तदर्शन ने संस्थान के निदेशक, कार्यकर्ताओं और संस्थान को चलाने वाली संस्था केंद्रीय हिंदी शिक्षण-मंडल के अध्यक्ष श्री बालकृष्ण

राव को साधुवाद देते हुए कामना प्रकट की कि यह आयोजन सफल हो; इससे हिंदी शिक्षकों की कार्य-क्षमता बढ़े; और भविष्य में इस प्रकार के आयोजन अधिक संख्या में संचालित होते रहें।

शिविर में हिंदी शिक्षण-विधि, ध्वनि-विज्ञान, साहित्य और राष्ट्रभाषा एवं राज्य-भाषा संबंधी अनेक समस्याओं-समाधानों पर संस्थान के अध्यापकों द्वारा २५ व्याख्यान दिये गये। नवीनता तथा उपयोगिता की दृष्टि से प्रत्येक व्याख्यान के बाद परिचर्चा भी हुई, जिसमें श्रोताओं का मुक्त योगदान प्राप्त हो सके। उसे अंतिम रूप दे कर तुरंत या निकट भविष्य में टंकित करा कर प्रेषण की भी व्यवस्था की गयी।

शिविर के ६१ सदस्यों को चार वर्गों में बाँट कर संस्थान के अध्यापकों के मार्गदर्शन से निम्नांकित चार उपयोगी प्रायोजनाओं पर सामूहिक परिचर्चा हुई और उनकी उपलब्धियों का प्रतिवेदन तैयार किया गया। वे चार उपयोगी प्रायोजनाएँ थीं: (क) हिंदीतर भाषा-भाषियों को हिंदी पढ़ाने की समस्याएँ, प्रचलित विधियाँ, उनका परीक्षण और मूल्यांकन । (ख) हिंदीतर भाषा-भाषियों के हिंदी उच्चारण, व्याकरण, शब्द-प्रयोग आदि की असाधारण विशेषताएँ और उनके कारण और समाधान के उपाय। (ग) हिंदीतर भाषा-भाषी राज्यों में प्रचलित पाठ्य-पुस्तकों के शब्द-प्रयोग और वाक्य-संरचना की उपयुक्तता और उनके अनुक्रमण की समीक्षा। (घ) राष्ट्रभाषा और राजभाषा के रूप में हिंदी के प्रचार की समस्याएँ और उनके समाधान।

प्रत्येक दिन साहित्यिक गोष्ठियाँ भी हुईं, जिनमें आधुनिक भारतीय भाषाओं के भक्ति-साहित्य और आधुनिक साहित्य पर निबंध-पाठ और विचार-विमर्श हुआ। इनमें डॉ० व्रजेश्वर वर्मा द्वारा हिंदी भक्ति-साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि, रामकृष्ण नावड़ा द्वारा कन्नड़ भक्ति-साहित्य का परिचय, डॉ० शंभुनाथ पांडेय द्वारा तुलसी : कवि के रूप में, डॉ० न० वी० राज-गोपालन द्वारा भक्ति-साहित्य की पृष्ठभूमि, वी० मदनमोहन राव द्वारा तेलुगु भक्ति-साहित्य का परिचय, आर० रामस्वामी द्वारा तमिल भक्ति-साहित्य का परिचय, पी० राघवन नायर द्वारा मलयालम भक्ति-साहित्य का परिचय, लाल जी उपाध्ये द्वारा मराठी भक्ति-साहित्य का परिचय, यशवंत त्रिवेदी द्वारा गुजराती भक्ति-साहित्य का परिचय, मोहनचंद्र भूयाँ द्वारा असमिया भक्ति-साहित्य का परिचय और कालिदास कनौजिया द्वारा उड़िया भक्ति-साहित्य का परिचय नामक निबंध पढ़े गये। कांतिलाल पटेल और दिनेश भाई त्रिवेदी उक्त कार्यक्रम के शिक्षक-संयोजक थे । डॉ० न० वी० राजगोपालन ने आधुनिक हिंदी उपन्यास (प्रेमचंदोत्तर-काल), डॉ० तेजनारायण लाल ने आधुनिक हिंदी कविता का परिचय, बालकृष्ण वामन राव भोंसले ने आधुनिक मराठी काव्य-साहित्य का परिचय, मोहन सुलेंकर ने मराठी रंगमंच का परिचय, चित्र महंत ने आधुनिक असमिया साहित्य का परिचय, वी० मदनमोहन राव ने आधुनिक तेलुगु काव्य-साहित्य का परिचय, पी० राघवन नायर ने आधुनिक मलयालम काव्य का परिचय, शंकर वेंकटेश काश्यपे ने आधुनिक मराठी कथा-साहित्य नामक निबंध पढ़े ; इन साहित्यिक संगोष्ठियों के संयोजक डॉ० शंभुनाथ पांडेय और सहायक संयोजक नरेंद्र नौतम लाल अंजारिया थे।

इन साहित्यिक संगोष्ठियों का संक्षिप्त विवरण टंकित कर वितरित करने की व्यवस्था हुई। सुविधानुसार सभी उपयोगी निबंधों को संस्थान की ओर से प्रकाशित करने की भी व्यवस्था की गयी।

शिविर में कुछ स्थानीय तथा बाहर के विद्वानों ने भी विशेष व्याख्यान दिये। उनके नाम और निबंध-नाम निम्नांकित हैं : विद्यामार्तंड सत्यव्रत सिद्धांतालंकार : राजभाषा हिंदी, डॉ० विनयमोहन शर्मा : आधुनिक हिंदी कविता में प्रयोगवाद; कोटसुंदर राम शर्मा : हिंदीतर भाषियों के हिंदी सिखाने में भाषा-शास्त्र का उपयोग; अंबिका प्रसाद वाजपेयी : तुलसी का काव्य और मानवमनोविज्ञान; विद्यामार्तंड धर्मदेव सिद्धातालंकार : हिंदी की वर्तमान स्थिति।

विभिन्न हिंदीतर प्रदेशों के हिंदी शिक्षकों को (जो शिविर में सम्मिलित हो सके थे) शैक्षणिक पर्यटन के लिए उत्तर प्रदेश के दर्शनीय स्थानों के परिभ्रमण कराने की आयोजना की गयी।

२५ मई, ६५ को विविध प्रदेशों के सांस्कृतिक कार्यक्रम हुए और इससे भिन्न किंतु इसी तरह का कार्यक्रम शिविर-समापन के बाद हुआ। २७ मई को स्व० जवाहरलाल नेहरू के प्रति उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी वि० वि० की अध्यक्षता में श्रद्धांजलि अर्पित की गयी।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल तथा वियोगी हरि जी (मुख्य अतिथि) ने भी इस शिविर में भाग लिया। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने समापन के अवसर पर प्रमाण-पत्र वितरित करने तथा शिविर के सदस्यों को कुछ सदुपदेश देने की कृपा की। असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के सचिव रजनीकांत चक्रवर्ती और शिक्षा-मंत्रालय के उपसचिव नोहारिया राम जी जो संस्थान के शासी परिषद के सदस्य भी हैं, उपस्थित थे।

——व्रजेश्वर वर्मा,
निदेशक, केंद्रीय हिंदी संस्थान,
आगरा।

समीक्षाएँ

●●

'तार-सप्तक' के कवि कथा-विधा में : दो नवीन औपन्यासिक कृतियाँ

जो

प्रभाकर माचवे का उपन्यास। भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता। सन १९६४ ई०। मूल्य : ३.००।

लौटती लहरों की बाँसुरी

भारतभूषण अग्रवाल का उपन्यास। राजपाल एंड संस, दिल्ली; मूल्य : ३.५०।

सद्यः प्रकाशित उपन्यास 'जो' (प्रभाकर माचवे) एवं 'लौटती लहरों की बाँसुरी' (भारतभूषण अग्रवाल) पर कुछ लिखने की सार्थकता इस दृष्टि से आवश्यक है कि ये दोनों कृतियाँ बहुचर्चित 'तार सप्तक' (१९४३) के ऐसे दो कवियों की गद्य-रचनाएँ हैं, जिनकी आधारभूत दृष्टि में एक तात्विक अंतर है। सप्तकों के आगामी क्रम में धर्मवीर भारती और नरेश मेहता भी हैं। निस्संदेह जिनकी औपन्यासिक कृतियाँ 'अज्ञेय' के पश्चात हिंदी में महत्वपूर्ण लीक छोड़ती हैं। इस संदर्भ में प्रश्न स्वाभाविक है कि मूलतः काव्यधर्मी आस्था को ले कर सप्तकों के कवि गद्य की कथात्मक विधा को कहाँ तक प्रभावित करने में सफल हुए एवं गद्य के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन किस रूप में हो।

'तार सप्तक' के कवियों में से कथा-उपन्यास को सर्वाधिक प्रभावित किया 'अज्ञेय' ने। स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध ने एक उपन्यास लिखा था, कहते हैं जिसकी पांडुलिपि अमृत राय से खो गयी। इस सिलसिले में दो और कृतियाँ आयीं—'जो' और 'लौटती लहरों की बाँसुरी'। परंतु 'द्वाभा' और 'साँचा' के पश्चात 'जो' प्रभाकर माचवे (४७ वर्ष) की चौथी साहित्यिक कथा-रचना है। अधुनातन बौद्धिक चेतना और दृढ़ता से संरचित यह कृति हिंदी में पहला प्रयास है जो अमरीकी नीग्रो की पृष्ठभूमि पर आवृत की गयी। **'मेरा उद्देश्य अमेरिका की राजनैतिक-सामाजिक समस्या, काले-गोरे के तनाव, पर कोई निषेधात्मक या समर्थनात्मक मत प्रदर्शित करना नहीं रहा। इस समस्या के मानवीय पक्ष को ही मैं देखता हूँ।'** (पृष्ठ ५)। माचवे ने स्वयं इस संबंध में आगे यों लिखा : **मैंने कई सप्ताहांत (शनिवार-रविवार) शिकागो की ग़रीब बस्तियों में गुजारे हैं। मैंने यह जो 'जो' नाम की नीग्रो गायक की कहानी लिखी है, इस पर से सब नीग्रो लोगों**

का साधारणीकरण न कर लिया जाय, ठीक वैसे ही जैसे इस कहानी के स्टीव या मार्था सारे गोरे अमरिकियों का प्रतिनिधित्व नहीं करते। ...मेरा किसी से विरोध या द्वेष नहीं है—न अमेरिकी गोरों से, न ब्राह्मणों से, न हिंदी शुद्धवादियों से। मेरा विरोध हर तरह के अज्ञान और दुराग्रह से, साँचावादी चिंतन से, जरूर है जो हिंसा का मूल होता है।

'लौटती लहरों की बाँसुरी' भारतभूषण अग्रवाल (४५ वर्ष) की सर्वथा पहली औपन्यासिक रचना है, जिसे स्वयं लेखक ने दिवा-स्वप्न की शैली में एक भावुक मन की अंतर्कथा कहा है। मात्र इस कथ्य से यह प्रायोगिक रचना नहीं कही जा सकती, क्योंकि आम उपन्यासों की तरह इसकी वस्तु का स्तर सामान्य पाठकों के हेतु लिखित पाठ्य-सामग्री से क़तई अलग नहीं है। शीर्षक से समस्वर होती भावोन्मेषिता को ले कर बार-बार विगत में लौट कर कलेवर को फुलाने की प्रवृत्ति काफ़ी पुरानी हो चली है। अतीत से संचयन करना भी एक कमज़ोरी है। भारतभूषण अग्रवाल के इस उपन्यास का नायक 'अवकाश के दिनों में बरसों पहले बीते एक प्रणय-प्रसंग का बड़े विस्मय और कष्ट से उद्‌घाटन करता है और यह देख कर दंग रह जाता है कि उस घटना (जो उपन्यास पढ़ने पर घटना नहीं, बल्कि कैशोर्य भावुकता लगी) ने उसके जीवन में कितना रूप ले लिया है।' कितना कुछ बदल गया है इसी बात को अनावश्यक विस्तार देने के लिए कुल जमा १६४ पृष्ठों में लेखक ने लगभग छत्तीस बार 'फ़्लैश बैक' (दिवास्वप्न) का सहारा लिया। कथ्य-सामग्री के अभाव में कुछ बातों को व्यर्थ का विस्तार दिया गया। उपन्यास का फलक बहुत छोटा है। प्रौढ़ प्रतिष्ठित व्यक्ति अशोक (नायक)। सुखद वर्तमान। संपन्न और नियोजित परिवार। 'पी० एच० डी०' पत्नी। दो बड़े बच्चे। पत्नी को कॉलेज में नयी-नयी नौकरी। और जैसे कि हर भावुक उपन्यास लेखक की परिकल्पना होती है, वर्तमान समृद्धि के अलावा, इस उपन्यास का नायक कवि है। उसके कुछ कविता-संग्रह छप चुके हैं। शौक़ केवल दो—सिनेमा और सिगरेट। वह नाटक भी लिख लेता है। कॉलेज छोड़ने के बाद बंगाली और हिंदी जानने से कलकत्ता में एक साप्ताहिक का संपादक भी रह चुका है। नायक को इन गुणों से विभूषित कर देने के पश्चात उपन्यास में अनेक बचकानी बातों को भर पाना संभव हो जाता है—मसलन बार-बार कविता का ज़िक्र, कविता को उद्‌धृत करने की गुंजाइश एवं अतीत के भावुक प्रसंगों को उद्‌घाटित करने की सार्थकता। संतुष्ट वर्तमान के साथ 'लौटती लहरों की बाँसुरी' का नायक वर्षों बाद कलकत्ता आता है। वहीं से छत्तीस दिवास्वप्नों का क्रम शुरू हो जाता है, जिसका केंद्र है एक बंगाली परिवार, और उसमें भी एक लड़की अमिता, जिसका कैशोर्य-सुलभ प्रेम परिपक्व न हो कर भी नायक के लिए विछोह, पीड़ा और वर्षों बाद भावुकताभरी स्मृतियों में प्रतिफलित होता है। उपन्यास की ध्वनि कुछ इस तरह की है मानो लेखक (नायक) कहना चाहता है—मुझे अब देखो अमिता, मैं कहाँ से कहाँ आ गया। मैंने कितना कुछ पा लिया। मात्र सीमित परिप्रेक्ष में इस तरह की सामग्री द्वितीय पुरुष में प्रस्तुत करने के बजाय आत्मकथात्मक शैली में अर्थात प्रथम पुरुष में लिखी जाती तो ज़्यादा उपयुक्त होती।

'लौटती लहरों की बाँसुरी'—शीर्षक जिस भाँति रूमानी है, उससे इतर किसी विशिष्ट कथ्य और स्तर की श्रेणी में यह कृति नहीं

आती। कदाचित आधुनिक होने की रौ में लेखक ने आरंभ में ही जिस सामाजिक परिवेश को छुआ है, वहीं से उपन्यास के अंत तक लेखक का हीन भाव बना रहता है। पहले दस पृष्ठों में पच्चीसों बार 'टेलीफोन' का उल्लेख एवं 'टेलीफोन' विषयक प्रचलित शब्दों (ऑपरेटर, म्युचुअल-एक्सचेंज, कॉल, पी० बी० एक्स, इंगेज्ड, डेड आदि) के अलावा फोन पर बोलने के ढंग और 'ऑपरेटर्स' की भाषा आदि में लेखक द्वारा इस क़दर रुचि ली गयी कि लगता है वह 'ज्ञातव्य बातें' बताना आवश्यक समझता है।

इस कृति का दूसरा पक्ष भाषागत ढाँचे से संबंधित है, जिसमें अनेकानेक अंग्रेज़ी शब्द आये हैं। इतना ही नहीं संवाद-वाक्य अंग्रेज़ी में न होते और उन्हें मात्र हिंदी में ही रहने दिया जाता तो भाषा-प्रवाह में फ़र्क़ नहीं आता। अत्यधिक यथार्थ चित्रण के लिए सतत रूप से अंग्रेज़ी शब्दों का उपयोग भाषा की समस्वरता तो भंग करता है। पूरे उपन्यास में, जैसा कि मेरे एक मित्र ने गिन कर बताया, कुल ९०६ अंग्रेज़ी शब्द आये हैं। जो दोष आंचलिक उपन्यासों के संबंध में देहाती शब्द और मुहावरों की बहुलता को ले कर लगाया जाता है, वही आरोप क्या आंग्ल भाषा के शब्दों के सतत व्यवहृत किये जाने के प्रति नहीं लगाया जा सकता? 'लौटती लहरों की बाँसुरी' मेरे मेज़ पर फेंकते हुए मित्र बोले, 'हिंदी तो अल्ला की गाय है, जैसा चाहो उसका उपयोग करो। कोई नहीं रोकता। फिर चाहे एक ओर फोन का चोंगा उठा कर उसे पालने पर रखने की सावधानी लो, चाहे अंग्रेज़ी के शब्दों को हिंदी ढंग से बहुवाची बना कर (यथा—कांपीटीशन—कांपीटीशनों) हिंदी की दुहाई दो।

कहना असंगत न होगा कि यह कृति 'तार सप्तक' के कवि के मानसिक स्तर के अनुरूप नहीं है। यह किसी बड़ी बात का संकेत नहीं करती, वरन लेखक की भावुकताभरी हीन ग्रंथियों में घुटती गीत-परक वृत्ति को ही गद्य में आँकती है।

ठीक इससे भिन्न 'जो' का परिवेश है, जिसके कथ्य में नयापन है। माचवे 'तार-सप्तक' के केक्टसी स्वभाव वाले 'एंटीरोमांटिक' कवि हैं। 'जो' लिखते समय भी उनके अंतर्मन में भारत के वर्ण-द्वेषी प्रश्नों और जातीयवाद की समस्याएँ रहीं, जिन्हें उन्होंने अमरीका के अत्याधुनिक परिपेक्ष में समझना चाहा। माचवे के कवि-आलोचक व्यक्तित्व को उभारती यह कृति जितनी सहज है उतनी ही साहित्यिक, विचारोत्तेजक एवं कविता का मज़ा देती है। डायरी का कहीं-कहीं रंग देती यह रचना यात्रा-स्मृतियों को छूती है, चोट करती है एवं माचवे जी की अखंडता और व्यंग्य गुणों को निरावृत करती है। आधुनिक शिल्प की तरह लापरवाह इसकी बनगट है। और तराश (फ़िनिश) का यह अभाव माचवे जी के काव्य और समूचे व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य है। यही वजह है कि 'जो' का अंतिम अंश एक साथ बहुत सी बातों को उद्‌घाटित करने की चेष्टा में लिखा जाने से बौद्धिक हो गया है। कहानी जो (जोज़ेफ) के इर्द-गिर्द चलती है, जब कि उपन्यास में बेसी और जेम्स, डोरा और मार्था, रामन् और मुरुगन भी हैं। अपनी जगह सभी पात्र महत्वपूर्ण हैं। बेसी का गोरे जेम्स के प्रति प्रेम जो को पागल बना देता है। वह वहशी हो उठता है। फिर वही काले-गोरे का जन्मजात बैर. . . .और आधुनिकता के बावजूद भी मनुष्य का वही थोथा संस्कार . . .। लगता है उपन्यास को जितना कलेवर लेना चाहिए उतना लिया नहीं गया। माचवे

जी की प्रवृत्ति रही है कि रचना को जिस स्तर से वे आरंभ करते हैं उस स्तर को, उतावलेपन के कारण, अंत तक निभाते नहीं। ऐसा ही कुछ राहुल सांकृत्यायन में रहा, वैसा ही रांगेय राघव में। कहने के लिए जहाँ बहुत कुछ हो, वहाँ यह सब होता है। इसलिए काव्य जितना माचवे के लिए सहज है, उतना ही गद्य। उतावली दोनों जगह है। वस्तुतः नये ढंग की यह औपन्यासिक कृति लेखक को अपने समूचे व्यक्तित्व के साथ लेखन से संपृक्त होने की सुविधा देती है। माचवे ने इस प्रयोग को मुक्त ढंग से लिया है। शिल्प की कुंठाएँ जहाँ टूट जाती हैं, और कृतित्व कुल मिला कर 'ऑटो-ग्राफी' का एक अंश बन कर उभरता है।

'जो' औपन्यासिक शिल्प में एकदम नवीन, साहित्यिक रूप में है, वल्कि अनगढ़ता के प्रति कलात्मक स्वीकृति है। भारतभूषण अग्रवाल के उपन्यास में इस तरह का साहित्यिक संदर्भ उसी जगह आता है जहाँ उसका नायक (?) अशोक अपने काव्य-संग्रह से एक कविता (पृष्ठ १५१) पढ़ता है। 'जो' के अंतिम पृष्ठों में बहुत अधिक कविताओं के अंश दिये गये हैं। एक जगह गिंसबर्ग की एक लंबी कविता (ग्रे हाउंड लगेज रूम में) ही अनूदित कर रख दी गयी है। उपन्यास का अधिकांश साहित्यिक प्रभाव से अंत तक सहज रंजित है। इसमें लगभग इक्कीस जगह नीग्रो को उद्घाटित करने वाली कविताओं के अंश आये, जो उसे आज के बौद्धिक धरातल पर लाने में सहायक सिद्ध हुए। इसलिए 'जो' का समूचा लेखन आधुनिक चित्र-कला शैली के निकट लगता है।

—श्याम परमार,
६।१३, पूर्व पटेल नगर,
नयी दिल्ली—१२।

राजस्थानी लोक-कथाएँ

गोविंद अग्रवाल द्वारा दो खंडों में संकलित। भारती-भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग। सं० २०२१ वि०। मूल्य : ५.००।

लोकसत्तात्मक प्रणाली के साथ-साथ विभिन्न देशों में लोक-जीवन की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था। लोक-जीवन की अखंड और अनाहत धारा अपने में सब कुछ समेटती हुई निरंतर प्रवाहित रहती है। उच्चस्तरीय संस्कृति की भाँति उसमें ग्रहण-वर्जन की प्रवृत्ति कम दृष्टिगोचर होती है। इसलिए किसी भी देश के सांस्कृतिक अध्ययन के लिए लोक-जीवन का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। संस्कृति का अव्याहत रूप तो लोक-जीवन में ही मिलता है। लोक-गीतों और लोक-कथाओं में मानवी हर्ष-शोक, सुख-दुख, आशा-निराशा, प्रेम-घृणा, आकांक्षाएँ, सामाजिक एवं धार्मिक आचार-विचार, नैतिक दृष्टिकोण, विवेक, मान्यताएँ, विश्वास, ऐतिहासिक एवं राज-नीतिक गतिविधियाँ, विदेशी प्रभाव आदि की एक अटूट परंपरा मिलती है। उनमें देश की धरती का स्वर सुनायी पड़ता है। उनमें मानव-जीवन की अनेक शाश्वत समस्याओं पर प्रकाश पड़ता दृष्टिगोचर होता है। मनुष्य के सामान्य मनोविज्ञान, उसके मनोभावों और उसके जीवन संबंधी मूल तत्वों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए लोक-साहित्य अक्षय भंडार है। मानव-जीवन का जैसा आरोह-अवरोह लोक-साहित्य से प्राप्त होता है वह परिनिष्ठित साहित्य से भी प्राप्त नहीं होता। लोक-साहित्य में मनुष्य

ही अपने सहज-स्वाभाविक रूप में नहीं, उसकी चिर सहचरी प्रकृति, नदी-नाले, पर्वत, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, यहाँ तक कि देवता भी, प्रतिष्ठित रहते हैं। संपूर्ण चराचर विश्व के प्रति एकात्म भाव और आनुभूतिक संबंध के अंतर्निहित सूत्र के साथ मनुष्य अपनी विराटता का अनुभव लोक-साहित्य में ही करता है।

हिंदी में लोक-जीवन की ओर ध्यान सर्वप्रथम कुछ विदेशी विद्वानों ने उन्नीसवीं शताब्दी में दिया था। उन्होंने तत्कालीन भारतीय जन-जीवन में प्रचलित आचार-विचारों, वेश-भूषा, कर्मकांड, लौकिक मान्यताओं आदि का अध्ययन किया था। तत्पश्चात स्व० पं० रामनरेश त्रिपाठी का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। उन्होंने लोक-जीवन में प्रचलित गीतों का संकलन कर नवीन दिशा की ओर संकेत किया था। हर्ष का विषय है कि हिंदी के साहित्य-सेवी उनके बताये मार्ग का निरंतर अनुसरण करते चले आये हैं। न केवल स्वतंत्र रूप से ही लोक-गीतों और लोक-कथाओं का संग्रह-संपादन और अध्ययन हुआ, वरन हिंदी क्षेत्र के विभिन्न विश्वविद्यालयों में भी इस दिशा में वैज्ञानिक विधि द्वारा शोध-कार्य हुआ, और हो रहा है, और लोक-जीवन से संबंधित अनेक प्रकार के विश्लेषण एवं वर्गीकरण सामने आये हैं। गत कुछ वर्षों में लोक-साहित्य के अध्ययन द्वारा हिंदी क्षेत्र के सामाजिक एवं धार्मिक आचार-विचारों, रीति-रस्मों आदि पर यथेष्ट प्रकाश पड़ा है। हिंदी प्रदेश की विभिन्न बोलियों के लोक-साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन भी उपयोगी सिद्ध हुआ है। यद्यपि इधर कुछ जनपदों के लोक-साहित्य का अध्ययन प्रारंभ हो गया, तो भी इस दिशा में अभी कार्य करना शेष है। यह सब कार्य हो जाने पर, उसका भली भाँति विश्लेषण तथा वर्गीकरण हो जाने पर हिंदी प्रदेश के लोक-जीवन का अखंड चित्र उभरेगा और वह निस्संदेह इतिहास-लेखकों और संस्कृति के अध्येताओं के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा।

इस दृष्टि से श्री गोविंद अग्रवाल का प्रस्तुत प्रयास न केवल सराहनीय है, वरन अनुकरणीय भी है। आशा है, हिंदी क्षेत्र के अन्य भागों में प्रचलित लोक-गीतों और लोक-कथाओं का भी संकलन, विश्लेषण और वर्गीकरण हो कर उनका वैज्ञानिक विधि से सुसज्जित टिप्पणियों सहित संपादन होगा। प्रस्तुत पुस्तक में श्री अग्रवाल ने राजस्थानी लोक-कथाओं का संग्रह लोक-वार्ता शास्त्र के आधार पर किया है। प्रथम खंड में ३२४ और द्वितीय खंड में १७६ छोटी-बड़ी कथाएँ हैं। राजस्थान में अभी और भी लोक-कथाएँ प्रचलित होंगी और आशा है, श्री अग्रवाल उनका संग्रह कर शीघ्र ही हिंदी के पाठकों को लाभान्वित करेंगे। यह कार्य परिश्रमसाध्य अवश्य है, किंतु श्री अग्रवाल से हमें पूर्ण आशा है कि वे इस कठिन कार्य को भी सरल बना डालेंगे। इस संग्रह में संकलित कहानियों में जातक और पंचतंत्र की कहानियों का सा आनंद है, उनमें मानव-जीवन की अनेक समस्याओं पर सहज-स्वाभाविक रूप में प्रकाश पड़ता है। उनमें एक अद्भुत संसार समाया हुआ है। उनमें बिल्ली, कौआ, सिंह, पेड़-पौधे, नदी-नाले, पर्वत, राजा, रानी, राजकुमार, राजकुमारी आदि सब प्रकार के पात्र हैं। जीवन का एक सनातन एवं अखंड रूप उनमें है। इस संग्रह में राजस्थान के इतिहास-प्रसिद्ध शौर्य, महिला-व्रत-कथाओं, आश्रयदाताओं और यजमानों, घरेलू जीवन, सामान्य विवेक-बुद्धि आदि से संबंधित कथाएँ हैं। श्री अग्रवाल ने

यदि इन कथाओं का वर्गीकरण भी कर दिया होता तो और भी अच्छा रहता। किंतु अपने प्रस्तुत रूप में भी यह संग्रह अत्यंत उपयोगी है। वह इतिहास और संस्कृति के विद्यार्थियों के लिए बहुत काम का है।

डॉ० वासुदेवशरण जी अग्रवाल और डॉ० कन्हैयालाल सहल से श्री गोविंद अग्रवाल को जो प्रेरणा इस संकलन के संबंध में मिली है, वह, आशा है, भविष्य में भी मिलती रहेगी।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय,
२, सर पी० सी० बनर्जी रोड,
एलेनगंज, इलाहाबाद।

अंकुर की कृतज्ञता

दिनकर सोनवलकर का काव्य-संग्रह। लोक - चेतना प्रकाशन, जबलपुर। मूल्य : ३.००।

'अंकुर की कृतज्ञता' कवि दिनकर सोनवलकर की ४८ छोटी-बड़ी कविताओं का काव्य-संग्रह है। इस काव्य-संग्रह की अन्यत्र, पत्रिकाओं में भी चर्चा हो चुकी है। नयी पीढ़ी के कवियों में दिनकर सोनवलकर व्यंग्य-कवि माने जाते हैं। किंतु इस संग्रह को पढ़ने के बाद ऐसा ज्ञात होता है कि संग्रह की अत्यधिक रचनाओं में रोष ही प्रकट हुआ है, व्यंग्य नहीं। व्यंग्य रोष की अगली कड़ी है। क्षोभ और रोष व्यंग्य के मूल में निहित रहते हैं। किंतु अभिव्यक्ति के स्तर पर आ कर यदि उनमें संशोधन नहीं हो पाता तो व्यंग्य अपने सहज तीखेपन के साथ नहीं उभर पाता, भोंड़ा बन कर रह जाता है। यहीं हास्य की स्थिति अपने आप आ जाती है। व्यंग्य स्वभावतः गंभीर होता है किंतु प्रभाव तीखा डालता है। वह हँसाता नहीं, आश्चर्य में नहीं डालता, वरन यथार्थ के उस पहलू को खोल कर सामने लाता है जिससे रचनाकार क्षुब्ध रहा होता है। पाठक इस यथार्थ को स्वीकार करता है और रचनाकार की क्षुब्धता से सामंजस्य स्थापित कर लेता है। संग्रह की अनेक लंबी रचनाएँ व्यंग्य से च्युत हुई हैं और रोष की एक लंबी भूमिका निबाहती चली गयी हैं। यही कारण है कि वे वर्णनात्मकता का आग्रह समेटे हैं, आवेगपूर्ण हैं और अधकचरी अनुभूति की द्योतक प्रतीत होने लगती हैं। उनका सही व्यंग्य उभरता नहीं, झलकता है। 'कवि और आलोचक', 'क्रांति, कथनी और करनी', मैं दार्शनिक नहीं', 'नये कवि की शंका' ऐसी ही रचनाएँ हैं।

आज की समाज-व्यवस्था तथा आर्थिक विषमताओं ने निश्चय ही घुटन, तड़पन और कुंठाओं को जन्मा है। इससे व्यक्ति और समाज का मनोविज्ञान बदला है। सत्य से भयभीत यथार्थ के विश्लेषण से अक्षम व्यक्ति पलायनवादी हो गया है। आत्म-हनन को स्वीकारता हुआ एकांगी हो गया है। यह घुटन उनके लिए बौद्धिक स्तर पर दर्शन है। कवि दिनकर सोनवलकर ने कुंठाओं को दर्शन नहीं माना। वह सबका कार्य-कारण जानता है। विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति उसे संघर्ष के लिए प्रेरित करती है। वह प्रश्न उठाता है—

वह क्या चीज़ है
जो हमें खुल कर जीने नहीं देती ?
जीवन का सहज निर्मल रस
बेखौफ़ पीने नहीं देती ?

× × × ×

हमारी जेबों में शंकाएँ फड़फड़ाती हैं
और कानों में
अफ़वाहें सरसराती हैं।

ऐसे ही अनेकों प्रश्न कवि के मन में उभरते हैं। हर प्रश्न के साथ असंगतियाँ हैं। उन असंगतियों से कवि का सामंजस्य नहीं स्थापित हो पाता। और यही वह विंदु है जहाँ व्यंग्य की स्थिति होती है। और कवि वह सब कुछ कहने को आतुर होता है, जो कहा नहीं गया।

अभिव्यक्ति के माध्यम अनेकों हैं
शब्दों की शक्ति भी अनंत है
पर कथ्य जो यथार्थ है
वह तो अनकहा रह गया।

दिनकर सोनवलकर सामाजिक बोध को अनुभूति के स्तर पर भोगते हैं। और उसे सहज रूप में अभिव्यक्ति भी देते हैं। उसके मन की पीड़ा अपनी ही नहीं, अनेकों की है। 'हमीदन की बकरी', 'तक़दीरें', 'अपरिचित को प्रणाम', चेहरे', 'स्थिति-बोध' इसी संदर्भ की रचनाएँ हैं।

अच्छा है जो हम गाँव में रहते हैं
शहर में होते तो बेमौत मर जाते
गाँव वाले ग़रीब हैं, अपढ़ हैं, गँवार हैं
पर शहर वालों से ज़्यादा ईमानदार हैं

पौधे लगा कर हिफ़ाज़त करना जानते हैं
मेहनत से डरते नहीं,
हिफ़ाज़त करना जानते हैं।

कवि की हर कविता में आस्था का स्वर मिलता है। प्रश्न, आह्वान और चुनौती भी। फिर भी कुछ ऐसी बातें हैं, जिनसे कविताएँ कमज़ोर बन गयी हैं। कई रचनाओं में फ़ैंटेसी का प्रयोग, वर्णन का बाहुल्य, एक ही बात का पिष्टपेषण पाठक के मन पर अच्छा प्रभाव नहीं डालते। छंद-योजना भी कमज़ोर हुई है। कई रचनाओं में दूसरे कवियों की झलक मिल जाती है। 'गुलाब और काँटे' में भवानीप्रसाद मिश्र की-सी शैली उभरती है। रचनाओं का जहाँ विस्तार हुआ है काव्य-तत्व की क्षति हुई है; साथ ही अधकचरेपन का आभास मिलने लगता है। संग्रह की छोटी रचनाएँ अधिक सार्थक हैं। लंबी कविता के निर्वाह के लिए गहन यथार्थ के भोगने का धैर्य अपेक्षित है। और यदि ऐसा नहीं हो पाता तो कविता कमज़ोर बन जाती है। स्वल्प यथार्थ अनुभूति के लिए छोटी रचनाएँ ही अधिक उपयुक्त होती हैं। फिर भी काव्य-संग्रह काव्य की एक स्वस्थ कड़ी है। जीवन के अनेकों यथार्थ पहलू सहज और स्वाभाविक रूप में व्यक्त हुए हैं, जो अक्सर नये कवियों की दृष्टि से फिसल जाते हैं। कवि संवेदना नहीं खोता। वह अपने कथ्य के प्रति ईमानदार है। मुझे बार-बार एहसास होता रहा है कविताओं के चयन में सतर्कता नहीं बरती गयी, जो काव्य-संकलन के लिए अत्यावश्यक है।

—अजित पुष्कल,
५, दरियाबाद,
इलाहाबाद।

दर्पन

लक्ष्मीनारायण लाल का नाटक। राजपाल एण्ड संस, दिल्ली। मूल्य २·००।

केवल हिंदी में ही नहीं, भारत की अन्य भाषाओं में भी नाटकों की स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। बंगला और मराठी में रंगमंच की परंपरा के रहते हुए भी अच्छे नाटक बहुत कम हैं। हिंदी में तो ऐसे नाटकों की संख्या उँगलियों पर गिनी जा सकती है। इसके कारणों का विश्लेषण करना यहाँ संभव नहीं है। विज्ञान और अर्थ दोनों के कारण ही यह प्रगति रुकी हुई है।

जो भी हो, यह एक विरोधाभास सा लगता है कि ऐसी स्थिति में नाटकों की माँग कम नहीं हो रही है। लिखे भी जा रहे हैं। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल उन लेखकों में से हैं, जिन्होंने इस क्षेत्र में एक साधक के रूप में काम किया है। उन्होंने रंगमंच से सक्रिय संबंध रखते हुए अनेक रंग-नाटक लिखे हैं। वे मात्र पठनीय नहीं हैं, अभिनेय भी हैं। इसीलिए रंगमंच पर वे काफ़ी लोकप्रिय हुए हैं।

प्रस्तुत नाटक एक ऐसी युवती की कहानी है जो दो रूपों में जीती है। एक नेपाली युवती बुरे ग्रह-नक्षत्रों में पैदा हुई थी और पाँच वर्ष की आयु में ही बौद्ध मठ को दान कर दी गयी थी। वहीं वह एक दिन बौद्ध भिक्षुणी बनी और मैत्रेय की करुणा तथा अहिंसा को आत्मसात कर के उसने अपनी सेवा द्वारा समाज के अनेक रोगियों और अपंगों को जीवन-दान दिया। लेकिन उसका एक और रूप है एक सांसारिक युवती का, जो पार्श्व जीवन के क्षेत्र को स्वीकार नहीं करता। वस्तुतः यह उसका अपना अंतःसंघर्ष है। उसका यह रूप बौद्ध भिक्षुणी को स्वीकार नहीं करता। वहाँ से भाग कर वह दो युवकों के जीवन में आती है। उनको जीवन-दान देती है, उनसे प्रेम करती है। यह सब सहज-स्वाभाविक है। लेकिन उसके अंतर का संघर्ष समाप्त नहीं होता। जन्म के समय के बुरे नक्षत्र उसको शांति नहीं लेने देते। वह किसी एक की नहीं हो सकती, न परिवार की, न प्रेम की और अंत में विस्तृत विश्व में मानव-कल्याण का कार्य करने के लिए वह सबको छोड़ने पर विवश हो जाती है।

डॉ० लाल ने बड़ी कुशलता से पूर्वी का चरित्र-चित्रण किया है। वह अद्भुत चरित्र अत्यंत सजीव और मांसल हो उठा है। नाटककार इस चरित्र का निर्माण करने के लिए बधाई का पात्र है। इसके अतिरिक्त नाटक के अन्य चरित्र भी बहुत सफल और मांसल हैं। हमारा विश्वास है कि मंच पर यह नाटक अत्यंत प्रभावशाली प्रमाणित होगा।

लेकिन हमें लेखक से एक शिकायत भी है। उन्होंने एक लोकप्रचलित सिद्धांत और संस्कार को ले कर ऐसी उलझन पैदा कर दी और उसके कारण नाटक में जो नाटकीयता आ गयी है वह स्वास्थ्य का लक्षण नहीं है। व्यापक सेवा-भाव और व्यक्तिगत कामना का यह संघर्ष जिसमें व्यापक सेवा-भाव की विजय दिखायी गयी है बहुत-घिसा-पिटा और पुराना है। हमें इस सिद्धांत से कोई विरोध नहीं, व्यक्तिगत रूप से मुझे वह प्रिय है, लेकिन जिस तरह उसका चित्रण किया गया है, वह बहुत उलझा हुआ है। आतंरिक संघर्ष को दुहरी भूमिका का रूप दे कर रहस्य पैदा करना भी कुछ फ़िल्मी सा लगता है। नाटक की भूमिका के संबंध में

भी यही कहा जा सकता है। सहजता का अभाव इस सुंदर और सफल नाटक के मूल्य को कुछ कम कर देता है। ये दोनों बातें बड़ी सरलता से हटायी जा सकती थीं। लेकिन इसके कारण नाटक के व्यापक मूल्य पर प्रभाव नहीं पड़ता।

विष्णु प्रभाकर,
८१८, कुंडेवालान, अजमेरी गेट,
दिल्ली—६।

इधर कुछ समय पूर्व मैं जबलपुर के सैनिक अस्पताल में घायल सैनिकों को देखने गया था। मेरे साथ म० प्र० क्षेत्र के सेनाधिपति मेजर जनरल श्री मिश्र और कई फ़ौजी डॉक्टर तथा अफ़सर थे। कुछ अन्य नागरिक भी थे।

हमने सैनिकों को विविध उपहार बाँटे। घायल सैनिक बड़ी प्रसन्न मुद्रा में थे। उनके मुख-मंडल पर तेजयुक्त गर्व छाया हुआ था। घायल होने पर भी अत्यंत उत्साह और स्फूर्ति उनकी बातचीत में भरी हुई थी और थी उनमें राष्ट्र की रक्षा के लिए उत्सर्ग की भावना। सैनिकों में पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, मद्रास, आंध्र, केरल, बंगाल आदि सभी राज्यों के सैनिक थे जिनमें सिख, राजपूत, जाट, गोरखा, मुसलमान जाति के लोग थे। इन्हें देख यह प्रमाणित होता था कि अंग्रेज़ी राज्य के समय इस देश की जो कुछ जातियाँ ही सैनिक कार्य के योग्य मानी जाती थीं वह कैसी विडंबना थी। विभिन्न भाषाभाषी होते हुए भी सब लोग आपस में हिंदी में बातें करते थे और हमसे भी सबने हिंदी में वार्तालाप किया।

अस्पताल का प्रबंध अत्यंत संतोषजनक और सुचारु था। अस्पताल के समस्त नाम-पट्टों पर पहले हिंदी थी और बाद में अंग्रेज़ी। महिला-कक्ष के नाम-पट्ट पर हिंदी में 'प्रसूति-गृह' लिखा हुआ था और अंग्रेज़ी में 'लेबर रूम'। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ठीक अर्थ अंग्रेज़ी की अपेक्षा हिंदी शब्दों से कहीं अधिक व्यक्त किया जा सकता है। 'लेबर रूम' के कई अर्थ हो सकते हैं, परंतु 'प्रसूति-गृह' का केवल एक। सैनिक अस्पताल के इन नाम-पट्टों का सरकारी अन्य विभागों, विशेषकर सिविल (असैनिक) विभागों को, अनुसरण करना चाहिए। मैं जानता था कि सैनिकों के आदेश-वाक्य तो बहुत समय से हिंदी में ही हैं, परंतु सेना के समस्त विभागों में इस प्रकार हिंदी का प्रचार ध्यान देने योग्य है।

सैनिक अस्पताल के डॉक्टर भी देश के विभिन्न राज्यों से आये हुए हैं। इनमें एक हैं पश्चिमोत्तर प्रदेश के कर्नल श्री महावीर सिंह जिनकी मातृभाषा पश्तो है और एक हैं मद्रास के कर्नल श्री जयराम जिनकी मातृभाषा तमिल है। दोनों सुंदर हिंदी बोलते थे। और उनसे मालूम हुआ कि सैनिक विभाग में अंग्रेज़ी न चल कर हिंदी ही चलती है।

अस्पताल के इस सुप्रबंध का सबसे अधिक श्रेय मेजर जनरल श्री मिश्र को है।

—गोविन्ददास,
सदस्य, म० प्र० सुरक्षा परिषद्।

पत्र-प्रतिक्रियाएँ

● ●

अमरीका में 'बीट', ब्रिटेन में 'क्रुद्ध पीढ़ी' का उद्‌भव लोगों को आकृष्ट करने और चौंकाने के लिए काफ़ी था। भारत में बंगला साहित्य में सर्वप्रथम एक नयी 'भूखी पीढ़ी' की संभावनाएँ उन पर अश्लीलता का आरोप लगा कर मुक़दमा चलाये जाने से प्रकट होती हैं। हिंदी के लेखक राजकमल चौधरी ने उस तथाकथित पीढ़ी से, उसके प्रवर्तक मलय राय चौधरी से प्रभावित हो कर कुछ लोकप्रिय पत्रिकाओं में इस संदर्भ में कुछ लेख और अनुवाद प्रकाशित कराये और एक सीमा तक लोगों की सहानुभूति भी अर्जित की। किंतु पटना से श्री शिवमंगल के संपादन में प्रकाशित 'अविकरण' में 'भूखी पीढ़ी' का हिंदी नाम 'अन्यथावाद' दिया गया है। इसी पत्रिका में संपादक के बड़े-बड़े दावों के साथ राजकमल चौधरी की, लघु उपन्यास कह कर 'एक अनार, एक बीमार' नामक रचना प्रकाशित है। क्या एक साहित्यिक सिर्फ़ इसलिए अमर्यादित 'माल' बाज़ार में दे सकता है, क्योंकि वह साहित्यिक भाषा में लिख सकता है? यदि अन्यथावाद' का अर्थ यह अश्लीलता का प्रदर्शन है, तो फिर मैं भी भारत सरकार से इस प्रकार के साहित्य पर उपयुक्त कार्यवाही करने का अनुरोध करता हूँ। 'अणिमा' के प्रवेशांक में उनकी ऐसी ही रचना 'शीशमहल' भी द्रष्टव्य है।

मैं विभिन्न साहित्यिकों और विचारकों से इस संबंध में मत व्यक्त करने का अनुरोध करता हूँ।

—प्रमोद कुमार,
पुरुलिया।

'माध्यम' के जून अंक में मेरा एक लेख 'हिंदी और मराठी के तद्‌भव शब्द' प्रकाशित हुआ है जिसके कुछ शब्दों के अर्थ पर श्री शरद मोझरकर ने 'माध्यम' के सितंबर अंक में आपत्ति उठायी है। संभव है मराठी के कई शब्द अब बातचीत में संकेतिक अर्थ में न प्रयुक्त होते हों पर वे मराठी साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं। उनकी आपत्ति का उत्तर नीचे दिया जा रहा है—

पृष्ठ—४३, **गाजणें** का अर्थ **प्रसिद्ध होना** के साथ **गरजना** भी होता है। देखिए—मराठी व्युत्पत्ति-कोश, पृ० २४९। पृष्ठ ४४, **जामुन** के लिए मराठी में **जांबुल** शब्द है पर पुराने साहित्य

में **जांब** भी प्रयुक्त है। देखिए—मराठी भाषेचा विकाश—ज्यूल ब्लॉक (मराठी अनुवाद) पृ० ४०२। पृष्ठ ४४, **किल्ली** का अर्थ हिंदी में **चाबी** या **कुंजी** भी होता है। देखिए—बृहत् हिंदी कोश, ज्ञानमंडल, पृष्ठ २८६। पृष्ठ ४५, **कतणें** अशुद्ध छपा है। **कापणे** होना चाहिए। पृष्ठ ४५, **उल्लू** शब्द भी मराठी में है। देखिए—मराठी भाषेचा विकाश (मराठी अनुवाद), पृ० ३६७। पृष्ठ ४५, **ऊभा** अशुद्ध छपा है। **ऊस** होना चाहिए। पृष्ठ ४५, **कोइल** शब्द भी मराठी में है। देखिए—मराठी व्युत्पत्ति-कोश, पृष्ठ २०१। पृष्ठ ४६, **केला** अशुद्ध छपा है। **केल** होना चाहिए। पृष्ठ ४६, अवधी, भोजपुरी आदि बोलियों में ऊख है। खड़ी बोली में ईख है। पृष्ठ ४६, **कंथा** अशुद्ध छपा है। **कंधा** होना चाहिए। पृष्ठ ४६, **उल्लास** के लिए **उलहना** होता है। देखिए—संक्षिप्त हिंदी शब्द-सागर, पृ० १३३। **उच्छाव** भी मराठी में होता है। देखिए—मराठी व्युत्पत्ति-कोश, पृष्ठ १०१।

—राजनारायण मौर्य,
पूना।

'**घाट** के पत्थर' कहानी को 'माध्यम' में प्रकाशित देख कर जितनी खुशी हुई है, उतनी ही तकलीफ़ मुझे उसे पढ़ कर हुई। आपने कहानी के कुछ अंशों के साथ काट-छाँट करने की छूट ली है। मेरे मत से वे अंश कहानी के उतने ही आवश्यक अंश थे जितने प्रकाशित अंश। अंत का बहस वाला अंश कहानी की आत्मा थी। आपने शायद अनावश्यक समझ कर ही उस अंश को कटवाया होगा। बहस वाले अंश द्वारा मैं पाठकों में बोरियत के भाव को पैदा करना चाहता था जिससे बचने, जिससे ऊब कर कहानी का 'मैं' घर छोड़ खुली हवा में जाता है। 'प्रकाश' नाम के पात्र को कहानी में से व्यर्थ समझ कर आपने निकाल तो दिया लेकिन 'प्रकाश' और 'महादेव' की एक दूसरे के पक्ष को काटने के लिए दी गयी दलीलों में से कुछ को आपने प्रस्तुत किया है। एक ही पात्र (महादेव) पहले उर्दू के पक्ष में और फिर वही अपनी ही कही बात काट कर उर्दू के विरुद्ध कैसे बोल सकता है? 'प्रकाश' का प्रवेश अनावश्यक घटना नहीं थी। वह अपने साथ अपनी विशेष भाषा-शैली और विचारों के साथ प्रवेश करता है। वह उर्दू फ़ैनेटिक है और अपने प्रवेश के साथ ही कहानी पर छा जाता है। कृपया अपने स्पष्टीकरण के साथ इस पत्र को प्रकाशित करने की व्यवस्था करेंगे।

—सुधीर जोशी,
इंदौर।

[कहानी में 'प्रकाश' के प्रवेश और उसके द्वारा चलायी गयी बहस के माध्यम से लेखक ने जिस 'बोरियत' का समावेश करना चाहा था, उससे लक्ष्य की प्राप्ति न हो कर कहानी में बिखराव आ जाता था। इसीलिए हमने प्रकाश को निकाल कर सांकेतिक ढंग से वही कार्य महादेव से संपन्न कराया और 'बोरियत' की रक्षा की चेष्टा की। प्रकाश को कहानी से निकाल कर हमने कहानी की संश्लिष्टता की ही रक्षा करना चाहा था।

पृष्ठ १८ के अंतिम अनुच्छेद का हवाला देते हुए लेखक ने महादेव की बातों में परस्पर विरोध बताया है। हम ऐसा नहीं मानते। अपनी बात के प्रारंभिक अंशों में महादेव उर्दू का समर्थन नहीं करता वरन क्लिष्ट हिंदी के विरुद्ध बोलता है। उसके मत से वही सरल स्वाभाविक हिंदी सामान्यतया समझी जाती है जिसमें रोज़मर्रा बोले जाने वाले उर्दू के शब्द भी सम्मिलित रहते हैं। फ़िल्मों में प्रयोग की जाने वाली भाषा में यही उर्दू मिश्रित हिंदी पायी जाती है और उसी को सारा देश सरलता से समझता है। अपनी बहस के अंतिम वाक्य में, जिसे महादेव द्वारा उर्दू का विरोध कहा गया है, महादेव उर्दू के पक्ष या विपक्ष में दलील न दे कर केवल यह स्पष्ट करता है कि फ़िल्मों में बोली जाने वाली उर्दू मिश्रित भाषा उर्दू नहीं बल्कि सरल हिंदी ही है और उस उर्दू से सर्वथा भिन्न है जिसे हम साहित्यिक उर्दू के रूप में जानते हैं।

हमारा मत है कि किसी भी रचना में ही बिना उसे किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये, काट-छाँट करने का अधिकार ही नहीं दायित्व भी संपादक का है; और यह किसी नयी परंपरा की स्थापना नहीं है। 'घाट के पत्थर' कहानी में संपादन के समय हमने जो काट-छाँट की है उससे रचना की आत्मा को किसी प्रकार की क्षति हुई हो अथवा उसकी प्रकृति में किसी प्रकार का अंतर आया हो, ऐसा हम नहीं मानते; हमने उसे सँवारने-सुधारने की दृष्टि से ही उसमें काट-छाँट की थी। हमें दुःख है कि लेखक को हमारे प्रयास से असंतोष हुआ। ——संपादक।]

प्राप्ति-स्वीकार

• •

अर्चना प्रकाशन, आरा

१. आधुनिक काव्य (कुमार विमल)

चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी

१. प्रयोगवादी काव्यधारा (तथोक्त नयी कविता) रमाशंकर तिवारी

नयी दिशा प्रकाशन, जमशेदपुर

१. नीम की निबौलियाँ (गुरुबचन सिंह)

अमरावती, मंदार विद्यापीठ, भागलपुर, बिहार

१. वर्षा (आनदशंकर माधवन)

२. दीपाराधना (आनंदशंकर माधवन)

परिमल प्रकाशन, उदयपुर

१. बादल और बाँसुरी (कविता) शलभ

अभिनव साहित्य प्रकाशन, सागर

आँखें, आँसू और क़ब्र (लघुकथा-संग्रह) ब्रजभूषण सिंह 'आदर्श'

अजंता प्रेस, पटना

१. खिलते काँटे, झरते फूल (कविता-संग्रह) कृष्णकुमार विद्यार्थी

रामचंद्र एंड कंपनी, दरियागंज, दिल्ली

१. उत्तर जय (काव्य-संग्रह) नरेंद्र शर्मा

ज्योति प्रकाशन, रायपुर

१. दियना क अँजोर (उपन्यास) शिवशंकर शुक्ल

शैलजाप्रीति प्रकाशन, कानपुर

१. युग की नवल वंदना के स्वर (कविता-संग्रह) रमाकांत श्रीवास्तव

श्री रामकृष्ण मठ और मिशन सेवाश्रम, इलाहाबाद।

१. परमहंस चरित (संकलन) स्वामी विज्ञानानंद

प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ।

१. संस्कृत नाटककार (कांतिकिशोर भरतिया)

२. भरत का संगीतशास्त्र (कैलाशचंद्रदेव बृहस्पति)

३. अंग्रेजी उपन्यास का विकास और उसकी रचना-पद्धति (श्री श्रीनारायण मिश्र)

४. तारे और मनुष्य (अनु० डॉ० निहाल किरण सेठी)

५. प्राचीन भारत में रसायन का विकास (डॉ० सत्यप्रकाश)

नवहिंद प्रकाशन, हैदराबाद

१. समयातीत (कविता-संग्रह) कांता

जनकल्याण प्रकाशन, उज्जैन

१. सरदार भगतसिंह (श्रीकृष्ण सरल)

नोवेल एंड कंपनी, पटना

१. चिंतन के धागे (डॉ० वचनदेव कुमार)

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, जयपुर

१. नृतत्व तथा समाज-दर्शन (संपादित)

२. दार्शनिक विश्लेषण (यशदेव शल्य)

३. समकालीन भारतीय दर्शन (के० सच्चिदानंद मूर्ति)

४. भारतीय मनोविज्ञान (नारायण शास्त्री द्रविड़)

५. अनुभववाद (यशदेव शल्य)

"हमें अपने सारे भेद-भाव भूल कर, एक होकर, संकट का मुकाबला करना है"

— लाल बहादुर शास्त्री

- **सब भाई-भाई की तरह रहें;**
- **अपने पड़ोसी के जान-माल और धर्म की रक्षा करें;**
- **न अफ़वाह सुनें, न फैलायें.**

विजय अवश्य हमारी होगी

•

डी ए ६५/३०७

हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित

शोध-साहित्य

•

अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय

—डॉ० दीनदयालु गुप्त १०.००

हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण

—डॉ० किरणकुमारी गुप्ता १०.००

प्रबोध-चन्द्रोदय और उसकी हिन्दी परंपरा

—डॉ० सरोज अग्रवाल १०.००

आधुनिक हिन्दी कविता में गीति-तत्व

—डॉ० सच्चिदानन्द तिवारी ९.००

गढ़वाली लोक-साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन

—श्री मोहनलाल बाबुलकर ८.००

कबीर और कबीर-पंथ

—डॉ० केदारनाथ द्विवेदी १२.००

•

हिन्दी साहित्य सम्मेलन (प्रकाशन)
इलाहाबाद-३